# विदाई की बेला

लेखक :

**पण्डित रतनचन्द भारिल्ल**

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए , बी एड.

प्राचार्य, श्री टोडरमल दि. जैन सि. महाविद्यालय

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२ ०१५

प्रकाशक :

**पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट**

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२ ०१५

**हिन्दी**

- प्रथम सात सस्करण
  [२६-१-९२ से अद्यतन]
  ४६ हजार ८००
- आठवाँ सस्करण .
  २६ जनवरी, १९९९
  ५ हजार

**मराठी**

- प्रथम दो सस्करण
  २४ अक्टूबर, ९३ से अद्यतन
  ८ हजार ३००
- तृतीय सस्करण
  २० मार्च, १९९६
  ३ हजार

**गुजराती**

- प्रथम सम्करण
  १२ नवम्बर, १९९३
  ३ हजार २००
- जैनपथ के सम्पादकीय मे
  ३ हजार

**कुल सख्या** ६९,५००

मूल्य दस रुपए
**( पक्की जिल्द )**

**मुद्रक** ·
जयपुर प्रिन्टर्स प्रा लि
एम आई रोड, जयपुर
फोन 373822

## प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

**२५००/- रुपये प्रदान करने वाले :**
श्रीमती मीनावती जैन ध प श्री कुलवन्तरायजी जैन, सहारनपुर।

**१०००/- रुपये प्रदान करने वाले :**
श्री शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज • श्री भागचन्दजी कालिका, उदयपुर • श्री केशरदेवजी जैन, कानपुर • श्री महावीरप्रसादजी सरावगी, कलकत्ता • श्रीमती भँवरीबाई ध प श्री घीसालालजी छाबडा, सीकरवाले • श्री प्रेमचन्दजी जैन, सोनीपत सिटी • श्री मोलडमल शोसिह राय जैन, अग्रवाल मण्डी • श्री सूरजमलजी जैन, कोटा • श्री मगनलालजी जैन, फैडरेशन अध्यक्ष, आरोन • श्री प्यारेचन्दजी भागचन्दजी जैन सरावगी, उदयपुर • श्रीमती विमलादेवी जैन ध प श्री महेन्द्रकुमारजी जैन जयपुर।

**३०१/- रुपये प्रदान करने वाले**
श्री फूलचन्दजी विमलचन्दजी झाँझरी, उज्जैन • श्रीमती रामस्वरूपी देवी ध प स्व प धन्ना लालजी जैन, लश्कर, ग्वालियर।

**२५१/- रुपये प्रदान करने वाले**
श्री जीवनमलजी जेठमलजी अजमेरा, भीलवाडा • श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध प श्री पूनमचन्दजी छाबडा, इन्दौर।

**२०१/- रुपये प्रदान करने वाले**
श्री जयन्तीलालजी रतनलालजी जैन, नौगामा • गुप्तदान • श्रीमती प्रेमलता देवी जैन, बारा।

**१५१ रुपये प्रदान करने वाले**
श्री शान्तिलालजी चौधरी, भीलवाडा
• श्री बाबूलालजी तोतारामजी जैन, भुसावल

**१०१/- रुपये प्रदान करने वाले**
श्रीमती पानादेवी ध प श्री मोहनलालजी सेठी, गौहाटी • श्री माणकचन्दजी पाटनी, गौहाटी • श्री अहिसा चैरिटेबल ट्रस्ट, मुम्बई • श्रीमती रतनदेवी अजमेरा, जयपुर • श्री मदनलालजी जैन, कोटा • श्री कमलचन्दजी जैन, कोटा।

**१२,६२२/- रुपये कुल योग**

# प्रकाशकीय

साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है, पर यह नहीं भूलना चाहिए कि साहित्य मात्र दर्पण नहीं, दीपक भी है, मार्गदर्शक भी है।

साहित्य के क्षेत्र में आज कथासाहित्य ही सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है। सत्य और तथ्य को जन-जन तक पहुँचाने का इससे अधिक सशक्त और सुलभ माध्यम अभी तक कोई दूसरा विकसित नहीं हो सका।

जैन साहित्य में आज इस प्रकार के कथा साहित्य की महती आवश्यकता है, जो आधुनिक सदर्भ में उपयोगी हो और जैन तत्त्वज्ञान को जनरुचि के अनुरूप ऐसी सरल-सुबोध भाषा-शैली में प्रस्तुत करता हो, जिससे पाठक जैन तत्त्वज्ञान से परिचित और प्रभावित हो तथा जिन अध्यात्म को अंगीकार कर धर्म लाभ से लाभान्वित होते रहे।

कथाशैली के माध्यम से कठिन से कठिन तात्त्विक सिद्धान्तों को भी सरलता से पाठको तक पहुँचाया जा सकता है, उन्हे हृदयंगम कराया जा सकता है।

आज बड़े-बड़े ग्रथ पढ़ने का न तो किसी के पास समय है और न वैसी रुचि व बौद्धिक क्षमता है, जिससे सूक्ष्मतम सिद्धान्तो को हृदयंगम किया जा सके। इसकारण भी आज जैनदर्शन के सिद्धान्तों को कथाशैली मे लिखा जाना आवश्यक प्रतीत होता है।

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल ने इस दिशा में भी काम करना प्रारम्भ किया है। यद्यपि कथाशैली मे लिखी गई आपकी यह 'विदाई की बेला' द्वितीय पुस्तक है, पर मुझे विश्वास है कि उनकी यह द्वितीय कृति भी निश्चित रूप से अद्वितीय सिद्ध होगी।

'विदाई की बेला' प्रौढ और वृद्ध व्यक्तियों के लिए तो 'वरदान' रूप है ही, सामान्य पाठकों के लिए भी रोचक, ज्ञानवर्द्धक और अध्यात्म के अध्ययन की प्रेरणा देनेवाली कृति है।

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल की इस अत्यन्त उपयोगी कृति को प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। हमने एक वर्ष पहले १ जनवरी, १९९१ को आपकी सुप्रसिद्ध कथाकृति 'सस्कार' का प्रकाशन किया था। आपको यह जानकर सुखद आश्चर्य होगा कि उसने इतनी अल्प अवधि में ही समाज मे ऐसी लोकप्रियता प्राप्त की है कि उसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं और माँग ऐसी बनी हुई है कि समय पर पूर्ति कर पाना भी कठिन हो रहा है। पाठको के साथ पत्र-पत्रिकाओं और समीक्षकों ने भी उसे खूब सराहा है।

हमे विश्वास है 'विदाई की बेला' भी समाज मे इसी तरह समादृत होगी और पठन-पाठन में आयेगी। इसमे कथानक के माध्यम से जिन अध्यात्म को अपनाने की ऐसी मनोवैज्ञानिक ढग से प्रेरणा दी गई है कि पाठक का हृदय परिवर्तित हुए बिना नही रहेगा। एक बार तो वह इस दिशा में विचार करेगा ही करेगा।

यद्यपि इसमे संन्यास व समाधि की चर्चा है, पर यह उस सन्यास व समाधि की बात है, जिसकी साधना-आराधना जीवन के उत्तरार्द्ध मे या मृत्यु के समय नही, बल्कि जीवन के स्वर्णकाल मे, घर-गृहस्थी मे रहकर भी की जा सकती है और की जानी चाहिए। यह आबाल-वृद्ध सभी के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

इसके सुन्दर प्रकाशन के लिए श्री अखिल बसल भी धन्यवाद के पात्र है।

**नेमीचन्द पाटनी**

दि. २६ जनवरी, १९९२ — महामत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

(प्रथम सस्करण) — जयपुर-३०२ ०१५ (राज)

## आठवाँ संस्करण

आशा के अनुरूप 'विदाई की बेला' को भी लेखक की प्रथम कलाकृति 'सस्कार' एव निबन्ध साहित्य के रूप मे लिखी हुई 'जिनपूजनरहस्य', 'णमोकार महामत्र' और 'सामान्य श्रावकाचार' की भाँति ही पाठको ने ससम्मान अपनाया है।

आपको यह जानकर सुखद आश्चर्य होगा कि केवल छह माह मे ही इसके प्रथम सस्करण की १० हजार २०० प्रतियाॅ हाथो-हाथ उठ गई थी। दूसरा १० हजार २०० का सस्करण १३ माह की अल्प अवधि में ही समाप्त हो गया। तथा ७ हजार २०० का तृतीय सस्करण भी मात्र ११ माह मे समाप्त हा गया है। इसी प्रकार चतुर्थ व पचम सस्करण भी दो वर्ष मे समाप्त हो गये। प्रस्तुत आठवाॅ सस्करण आपके हाथ मे है।

पाठको की माॅग पर इसके ८ हजार ३०० के दो मराठी संस्करण एव ३ हजार २०० का एक गुजराती सस्करण — इस प्रकार यह कृति अबतक कुल ६३ हजार ५०० की सख्या मे भी प्रकाशित हो चुकी है।

समय-समय पर समीक्षकों ने भी लेखक की अन्य कृतियों की भाँति ही इस कृति की भी दिल खोलकर सराहना की है।

कृति की उत्कृष्टता व लोकप्रियता का इससे बडा प्रमाण और क्या हो सकता है? पाठकों की प्रेरणा हेतु कतिपय महत्त्वपूर्ण अभिमत अत में प्रकाशित हैं।

२६ जनवरी, १९९९ — **— नेमीचन्द पाटनी**

(आठवाँ संस्करण)

## आत्मकथ्य

विदाई की बेला –
सुख-दुःख की,
हर्ष-विषाद की
एक ऐसी मिली-जुली स्थिति है;
मानसिक अन्तर्द्वन्द्व या वैचारिक संघर्ष की
ऐसी मनःस्थिति है;
जिसकी केवल अनुभूति ही की जा सकती है,
अभिव्यक्ति नहीं ।
प्रस्तुत कृति –
रेखांकित करती है, कुछ ऐसे तथ्यों को
जो उस हर्ष-विषाद की स्थिति को,
अन्तर्द्वन्द्व और
वैचारिक संघर्ष को
शमित करने मे
सहायक हों
और जिनसे विचार-वीथियों मे
भटकती चिन्तनधारा को
सही दिशा मिले ।
इसी पावन उद्देश्य से
पाठकों के कर-कमलों में
अर्पित है
विदाई की बेला ।

—पंडित रतनचन्द भारिल्ल

(पृष्ठ १३८ का शेष भाग)

# अभिमत

## • किसी भी वर्ग के पाठक का मन ऊब नहीं सकता

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित "विदाई की बेला" पुस्तक मेरे पास लगभग एक मास पूर्व आ गई थी, पर इसे एक के बाद एक-अनेक पाठकों ने मुझ से मांग-मांगकर रुचिपूर्वक आद्योपान्त पढ़ा और मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। यह आज मेरे हाथ में आ पाई है। इससे इसकी रोचकता सिद्ध होती है। इसे जो भी पढ़ना शुरू करता है, वह अन्त तक पहुँचे बिना नहीं रहता ।

"जो भी पैदा होता है, उसे एक-न-एक दिन वर्तमान जीवन से विदाई लेनी ही पड़ती है" – इसी बात को प्रतिभाशाली लेखक ने अत्यन्त रोचक शैली में कथा का रूप देकर प्रकट किया है। कठिन से कठिन तत्त्वों को सरल एवं सरस हिन्दी भाषा मे ऐसे ढग से लिखा है कि किसी भी वर्ग के पाठक का मन ऊब नहीं सकता ।

प्रस्तुत पुस्तक में यत्र-तत्र प्रसंगत: संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी के अत्यन्त सरल और शिक्षाप्रद पद्य दिये हैं, जिनसे इसकी गरिमा और भी अधिक बढ गई है ।

कथानक मे दिये गये पात्रों के सदासुखी एवं विवेकी आदि नाम सार्थक है, जिन्हे सोच-समझकर ही रखा गया है ।

प्रस्तुत कृति में सल्लेखना की चर्चा अपेक्षा कृत विस्तार से की गई है, जो अक्षरश: पढ़ने योग्य है। वैसे तो सल्लेखना व समाधिमरण दोनो पर्यायवाचक शब्द हैं, पर विद्वान लेखक ने पृष्ठ ९ पर जो सूक्ष्म अन्तर बतलाया है - वह मूलत: दृष्टव्य है ।

इसे जो भी पढेगे उनके मन अवश्य ही निर्मल-निर्विकार होगे। मानव जीवन मे जन्म की अपेक्षा मरण सुधारने का महत्त्व अधिक होता है। जिन्होने समाधि द्वारा अपने मरण को संभाल लिया वे अपने अगले जन्म को सुखी बना लेते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक का विषय, लेखन शैली, प्रूफ सशोधन, टाइप, कागज, छपाई-सफाई और गैटअप आदि सभी नयनाभिराम और चित्ताकर्षक है।

– पं. अमृतलाल शास्त्री, साहित्याचार्य, ब्राह्मी विद्यापीठ, लाडनू

## • जैसा श्रद्धान था, वैसी ही पाई

'विदाई की बेला' कृति प्राप्त की। नाम के अनुसार उसमें सामग्री होगी – ऐसा श्रद्धान था, जैसा विश्वास था वैसी ही पाई। मैंने रात्रि के समय उसका अध्ययन आरभ किया तो आद्योपान्त पढे बिना छोड़ने को जी ही नहीं चाहा ।

आप लोगों के परिवार को विलक्षण सरस्वती प्राप्त हुई, यह देखकर अपार हर्ष हो रहा है। आपके चेहरे की शान्तमुद्रा से भी बड़ी शान्ति मिलती है। समय-समय पर हम लोगों के प्रेरणा स्रोत बने रहें । – ब्र. छक्कीलाल जैन

अधिष्ठाता – गु दिग. जैन उदासीन आश्रम, द्रोणगिरी (महा.)

# १

सूर्य अस्ताचल की ओर ढल चला था और अपनी सिन्दूरी किरणों से गगनमडल मे लालिमा बिखेरता हुआ पश्चिम दिशा के पहाड़ी सौन्दर्य मे चार चाँद लगा रहा था । वैसे पहाड़ी प्रदेश अपने आपमें भी कम सुन्दर नहीं था, पर सूर्य की किरणों से वह और भी आकर्षक लगने लगा था ।

सूर्य ढल जाने से उसकी तपन से तो लोगो को मुक्ति मिल गई थी, उनका शारीरिक सताप तो कम हो गया था; पर मानसिक पीड़ा से वे अभी भी परेशान थे , क्योंकि विषय-कषाय व राग-द्वेष मे रचे-पचे विभिन्न रुचियो वाले व्यक्तियो के एक साथ उठने-बैठने और साथ-साथ रहने से पारिवारिक परिवेश मे पैदा हुई कषायो के कारण मनस्ताप हुए बिना नही रहता ।

जिसप्रकार दो पत्थरो के आपस मे टकराने से चिनगारियाँ निकलना स्वाभाविक है ; उसीप्रकार जब दो व्यक्तियो के स्वार्थ और कषाये टकराती हैं तो राग-द्वेष की चिनगारियाँ निकलना भी स्वाभाविक ही हैं, जोकि मनस्ताप की जन्मदात्री हैं ।

परिवार के बीच आखिर कोई कब तक मुँह पर मुसीका लगाये, मुँह बद किए, मौन से बैठा रह सकता है ? यदि कोई चुप रहने की कोशिश करे भी तो वह भी तो उसकी नाराजगी का ही प्रतीक बन जाता है । अतः पारिवारिकजनों के बीच मे व्यक्तियों का बोलना जरूरी भी है और मजबूरी भी ।

जब एक स्थान पर रखे अचेतन बर्तन भी टकराने पर बिना बजे नहीं रह सकते तो सचेतन प्राणी बिना बोले कैसे रह सकते हैं ? अतः

बाते होना भी स्वाभाविक है और बातों-बातो मे बात का बढ़ जाना भी अस्वाभाविक नहीं है ।

कभी-कभी तो अनचाहे ही बात यहाँ तक बढ़ जाती है कि लोग मै-मै, तू-तू पर उतर आते हैं, पुरखो तक पहुँच जाते है और फिर कषाय का चक्र इतनी तेजी से घूमता है कि न तो किसी को अपने छोटे-बड़ो का ही ध्यान रहता है और न किसी की मान-मर्यादा की परवाह ही । बस कुशल यह समझिए कि वे हाथापाई पर नहीं उतरते, अन्यथा वह भी असभव नहीं है ।

ऐसे प्रसग एक बार नही, दिन भर मे अनेक बार बनते-बिगड़ते रहते हैं; क्योंकि परिस्थितियो की पराधीनता, विषयो का अनुराग व मोह की मार उन्हें बारंबार समझौता करने को बाध्य करते रहते हैं । अतः समझौता भी होता रहता है और बोलचाल भी चालू हो जाती है ।

इस तथ्य से इतना आश्वस्त तो हुआ ही जा सकता है कि ये लड़ाइयाँ लबी चलने वाली लड़ाइयाँ नही हुआ करती हैं, पर इस कसमकश से भी तो लोग छुटकारा पाना चाहते है; भले ही थोडी देर को ही सही । इसलिए शाम होते ही सभी सेवानिवृत्त और वृद्ध व्यक्ति अपनी-अपनी मित्रमडली के साथ और प्रौढ़ व युवक अपने-अपने परिवारो के साथ सैर-सपाटे के लिए बाग-बगीचो की ओर चल पड़ते ।

× × ×

उस दिन भी 'एक पथ दो काज' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए प्रायः सभी लोग उस पहाड़ी की सौन्दर्य छटा देखने के लिए निकल पड़े थे । मेरे लिए वह स्थान एकदम नया था, अतः मै भी उस पहाड़ी के सौन्दर्य की अनुपम छटा देखने का लोभ सवरण नहीं कर सका; इस कारण कोई साथी न मिलने पर भी मैं अकेला ही उस उपवन मे जा पहुँचा, जहाँ से वह सूर्यास्त का दृश्य स्पष्ट दिखाई देता था। पाँच-सात मिनट मे ही उस दृश्य को देखकर मै उस सुरम्य उपवन

में चिन्तन-मनन और ध्यान करने योग्य शांत और एकांत जगह देखकर एक स्थान पर बैठ गया ।

थोड़ी ही देर मे दो वृद्ध व्यक्ति भी वहाँ आ पहुँचे और मुझसे केवल दस कदम की दूरी पर हरी-भरी दूब देख जमीन पर ही पैर पसार कर बैठ गये और कोसने लगे जमाने को । कभी महगाई का रोना रोते तो कभी वर्तमान शिक्षा के दोषों पर दो-दो आँसू बहाते । कभी नेताओ के शिथिलाचार पर चर्चा करते, तो कभी नौकरशाही के भ्रष्टाचार पर आग-बबूला हो-होकर उनकी माँ-बहिन और बेटी से सीधा सपर्क करके अपनी जुबान को गदा करने लगते । कभी अपने घर की दास्तान छेड़ देते तो कभी घर-घर की कहानियाँ लेकर बैठ जाते । इस तरह मुझे ऐसा लगा कि सभवतः वे लोग प्रतिदिन इसी तरह की बेबुनयाद बातो मे अपना बहुमूल्य समय व्यतीत किया करते होंगे ।

उस दिन भी घर-बाहर, राज-काज और अड़ौसी-पड़ौसी के गुण-दोष ही उनकी बातचीत और शोध-खोज के विषय बने हुए थे । मानों उनके पास इसके सिवाय करने के लिए अन्य कुछ काम ही नहीं था, विचार-विमर्श व बाते करने के लिए अन्य कोई विषय ही नहीं था ।

"भला जिनके पैर कब्र मे लटके हों, जिनको यमराज का बुलावा आ गया हो, जिनके सिर के सफेद बाल मृत्यु का सदेश लेकर आ धमके हों, जिनके अग-अग ने जवाब दे दिया हो, जो केवल कुछ ही दिनो के मेहमान रह गये हो, परिजन-पुरजन भी जिनकी चिर बिदाई की मानसिकता बना चुके हों, अपनी अन्तिम विदाई के इन महत्वपूर्ण क्षणों मे भी क्या उन्हें अपने परलोक के विषय मे विचार करने के बजाय इन व्यर्थ की बातों के लिए समय है ?" - यह सोच-सोच कर मेरा मन व्यथित होने लगा ।

मेरा तत्व-चिन्तन और आत्मा-परमात्मा का ध्यान करने का विचार तो एक ओर धरा रह गया, मेरे मन मे नाना विकल्प उठने लगे -

"आखिर कैसे समझाया जाये इन वृद्धजनो को कि तुम अपना अमूल्य समय इन व्यर्थ की बातो मे बर्बाद क्यो कर रहे हो ? पहाड़ से अपना माथा क्यो मार रहे हो? इन बातो से दुनियाँ मे तो कोई परिवर्तन होने वाला है नही, तुम्हारा ही मनुष्यभव बिगड जायेगा । क्या तुम्हारे ये सारे विकल्प निरर्थक नही हैं? यहाँ बैठकर इन बातो से क्या सार निकलने वाला है ? यह तो ऐसा अरण्य रुदन है, जिसे पशु-पक्षी और जंगल के जानवरो के सिवाय और कोई नही सुनता । यह न केवल समय की बर्बादी है, बल्कि इन बातो मे आर्त-रौद्ररूप खोटा ध्यान होने से ये बाते कुगति की कारण भी है ।"

"वैसे भी सभी का यह कर्तव्य है कि वे ज्ञाता-दृष्टा रहें, क्योकि सभी को शात व सुखी होना है, आनद से रहना है । पर वृद्धजनो का तो अब एक मात्र यही मुख्य कर्तव्य रह गया है कि जो भी हो रहा है, वे उसके केवल ज्ञाता-द्रष्टा रहे, उसमे रुचि न ले, राग-द्वेष न करे । क्योकि वृद्धजन यदि अब भी सच्चे सुख का उपाय नही अपनायेगे तो कब अपनायेगे ? फिर उन्हे यह स्वर्ण अवसर कब मिलेगा ? उनका तो अब अपने अगले जन्म-जन्मान्तरो के बारे मे विचार करने का समय आ ही गया है, वे उसके बारे मे क्यो नही सोचते ?

इस जीवन को सुखी बनाने और जगत को सुधारने मे उन्होने अब तक क्या कुछ नही किया ? बचपन, जवानी और बुढ़ापा – तीनो अवस्थाएँ इसी उधेड़-बुन मे ही तो बिताई है, पर हुआ क्या ? जो कुछ किया, वे सब रेत के घरोंदे ही तो साबित हुए, जो बनाते-बनाते ही ढह गये और हम बस हाथ मलते रह गये; फिर भी इन सबसे वैराग्य क्यों नही आया?" – यही विचार करते-करते मेरा पूरा एक घटा कब-कैसे बीत गया, वे लोग कब उठ कर चले गये - कुछ पता ही नही लगा । मै उनसे कुछ कहना चाहता था, पर कह नही पाया। मन की बात मन मे सजोये मै अपने निवास पर लौट आया । •

# २

दूसरे दिन मै उसी बैंच पर बैठा हुआ वैचारिक उड़ाने भर-भर कर किसी कल्पनालोक मे विचर रहा था कि न जाने वे दोनो कब आकर मेरे सामने वाली बैच पर बैठ गए और लगे अपने अतीत जीवन की पुस्तक के पृष्ठ पलटने ।

ज्योंही उनकी आवाज ऊँची हुई कि मेरा ध्यान भग हो गया । यद्यपि उन्हे मेरी उपस्थिति का न तो कोई आभास ही था और न मुझ से कोई सरोकार ही; पर मुझे उनकी बातो मे गहरी दिलचस्पी थी; क्योंकि बिना भोगे-भुगते ही उनके जीवन के अनुभूत खट्टे-मीठे व कड़वे अनुभवो का लाभ मुझे मिल रहा था । वे दिल खोल बोले जा रहे थे और मेरा मन उन की बाते सुन-सुनकर विचार वीथियो मे विचरण कर रहा था ।

मुझे वही बैठे-बैठे उनकी सब बाते स्पष्ट सुनाई दे रही थी । आज उनकी बातचीत का विषय रोचक था, मनोरजक था । वे दोनो अपनी-अपनी आलोचना कर रहे थे, अपने-अपने दोषो की समीक्षा कर रहे थे । अतः मै उनकी बातो को विशेष ध्यान से सुनने लगा ।

पहला वृद्ध बोल रहा था – "बधु ! यद्यपि मेरा नाम सदासुखी है, पर मैने जीवनभर दुःख ही दुःख भोगा है; पता नही, ज्योतिषीजी ने मेरा नाम 'सदासुखी' क्या सोचकर रखा होगा ?"

दूसरे वृद्ध ने भी अपने मित्र सदासुखी की हाँ में हाँ मिलाते हुए कहा - "तुम ठीक कहते हो, ये ज्योतिषी भी क्या बला हैं ? देखो न ! किसी ज्योतिषी ने मेरा नाम भी 'विवेकी' रख दिया, जबकि मेरे जीवन मे अब तक मुझसे एक भी काम विवेक का नहीं हुआ । मेरा

हर कदम अविवेक का ही रहा । पहली गलती तो मुझसे यही हुई कि मैंने अपने परिवार नियोजन पर बिल्कुल ध्यान नही दिया और एक के बाद एक करके सात सतानें हो गई । इस कारण एक का भी न ढग से लालन-पालन ही हो सका और न देख-रेख ही । भला कोई अकेला आदमी सात-सात सतानो को कैसे सभाल सकता है ? धधा-पानी देखे या उनकी देख-रेख करे ? और घरवाली तो बेचारी घर के काम से ही नहीं निबट पाती, चूल्हे-चक्की मे ही अटकी रहती है ।

दूसरे, मै स्वय भी अधिक नही पढ़ सका और अपनी सतानो को भी कोई विशेष पढ़ाया-लिखाया नही । धधा भी चुना तो ऐसा कि जीवन भर मरने को ही फुरसत नही मिली । हलवाई और होटल का धधा भी कोई धधा है ? यद्यपि इस धधे मे धरम के दूने होते है, पर ऐसी कमाई किस काम की, जिसमे हिसा ही हिसा हो और लोगो के स्वास्थ्य के साथ खिलवाड़ करना पड़े ?"

सदासुखी ने पूछा - "स्वास्थ्य के साथ खिलवाड कैसी ?"

विवेकी ने उत्तर दिया - "अरे भाई । यह धधा ही खोटा है, जब बासी—सडी-बुसी मिठाई बच जाती है, तो हम लोग फिर से उसी मिठाई मे कुछ ताजा मिष्टान्न मिलाकर पुनः नया रूप देकर उसे थालो मे सजाकर रख देते है और ताजे मिष्टान्न के नाम पर उसे बेच देते हैं, महीनो का मैदा-बेसन तथा सस्ते से सस्ता घटिया घी-तेल वगैरह काम मे लेना पड़ता है । कम्पीटिशन का जमाना है न ? अतः इस पापी पेट के लिए सब उल्टे-सीधे काम करने पडते हैं । सच पूछा जाए तो भले आदमियो के तो खाने लायक ही नहीं होती ये मिठाइयाँ, पर क्या करें ? अन्य कोई उपाय भी तो नहीं । प्रातः पाँच बजे से रात्रि के ग्यारह-बारह बजे तक दुकान पर इतनी कठिन ड्यूटी देनी पडती कि न सुबह पूजा-पाठ को समय और न शाम को स्वाध्याय एव

मनन-चिन्तन की फुरसत । सारा जीवन यों ही कोल्हू के बैल की तरह् काम-काज में जुते-जुते निकाल दिया ।"

× × ×

चाहे इसे मानवीय मनोविज्ञान कहो या मानवीय कमजोरी, पर यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अधिकाश व्यक्ति दूसरों की घटनायें सुनते-सुनते स्वय अपने जीवन की घटनाएँ सुनाने को उत्सुक ही नही, आतुर तक हो उठते हैं और कभी-कभी तो भावुकतावश न कहने योग्य बाते भी कह जाते हैं । जिनसे वाद-विवाद बढ़ने की सभावना हो, ऐसी बाते कहने से भी अपने को रोक नहीं पाते ।

सदासुखी के साथ भी यही हुआ । वह भी विवेकी की बाते सुनकर अपने जीवन की एक दुःखद घटना सुनाने से स्वय को नहीं रोक सका।

घटना की भूमिका बनाते हुए उसने कहा - "इसमे कोई सदेह नही कि राष्ट्रहित, परिवार-कल्याण और आत्मोद्धार की दृष्टि से परिवार बढ़ा लेने और आजीविका के चुनाव करने मे तुम से भूल हुई है; पर पारिवारिक और आर्थिक परिस्थितियो वश ये भूले होना अस्वाभाविक नहीं है, इनसे तुम्हे पश्चाताप और दुःख तो हो सकता है, पर ये लोकनिंद्य व दंडनीय अपराधो की श्रेणी मे नही आती ।

भाई । मुझसे तो जीवन मे एक ऐसा अक्षम्य अपराध बन गया है, जिसे स्वय मै भी युगो-युगो तक नहीं भूल सकूँगा और उस अपराध के लिए मेरे बेटे मुझे कितना भी कष्ट क्यों न दे, मैं उसे अपने अपराध का प्रायश्चित्त मानकर खुशी-खुशी सहता रहूँगा । बस, इसी कारण मुझ पर हो रहे अपने बेटो के दुर्व्यवहार का मुझे कोई दुःख-दर्द नहीं है।"

मै सोचता हूँ - "अच्छा हुआ, मेरे अपराध का दड मुझे इसी जन्म में मिल रहा है । जिन लोगों ने मेरे माता-पिता की एव मेरी — दोनो पीढ़ियाँ देखी हैं, उन्होने मेरी इस घटना से अवश्य ही शिक्षा ली होगी ।

मै अपने उस अपराध को चिल्ला-चिल्लाकर कहना चाहता हूँ, ताकि भविष्य की पीढ़ियाँ भी उससे सबक सीख सकें । फिर कोई भी व्यक्ति अपने पूज्य माता-पिता के साथ मुझ जैसा जघन्य अपराध न करे ।"

विवेकी ने कहा - "कुछ कहोगे भी या यो ही पहेलियाँ बुझाते रहोगे ?"

सदासुखी बोला — "हाँ, हाँ, कहूँगा; अवश्य कहूँगा और जोर-जोर से कहूँगा, ताकि सारा जगत सुने और शिक्षा ले । पर पहले ।"

विवेकी समझ गया कि जबतक इसके मन की भडास पूरी तरह नही निकल जायेगी, जबतक यह अपने मन के गुब्बार निकालकर सहज नही हो पायेगा, तबतक वह घटना नही सुना पायेगा; अतः उसने जो कुछ कहा, सब चुपचाप सुनता रहा ।

सदासुखी ने अपनी बात जारी रखते हुए आगे कहा - "भाई । केवल नाम सदासुखी रखने से थोडे ही कोई सुखी हो जाता है, सुख-शान्ति प्राप्त करने के लिए हमे काम भी ऐसा करना चाहिए, जिससे सुख की प्राप्ति हो । मैने अपने जीवन मे ऐसा कोई काम ही नही किया । मै तो दिन-रात एकमात्र पैसा कमाने के चक्कर मे ही पड़ा रहा । वस्तुत. मै ऐसा मान बैठा था कि पैसा ही सब सुखो का साधन है, पैसे से सब सुख पाये जा सकते है, पर अब मेरा यह भ्रम दूर हो गया है, पैसा बहुत कुछ हो सकता है, पर सब कुछ नही । अब मै स्वय प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि आज मेरे पास क्या नही है ? करोडो की चल-अचल सपत्ति, अटूट आमदनी के स्रोत; पर पाप का उदय आते ही वह सब सपत्ति देखते ही देखते विपत्ति बन गई है । कोई एक बात हो तो बताऊँ, क्या-क्या कहूँ ? कभी फुरसत मे शान्ति से बैठेगे, तब सब सुनाऊँगा । अभी मेरे मन मे हलचल है, अशान्ति है ।

आज हम अपने बेटो से सेवा की आशा और सद्व्यवहार की अपेक्षा रखते है, पर हमे यह भी तो सोचना चाहिए कि कभी हम भी किसी

के बेटे थे, क्या हमारे माता-पिता भी हमसे यही आशा/अपेक्षा नहीं रखते होंगे ?

हृदय पर हाथ रखकर हम अपनी अन्तरात्मा से पूछें कि हमने उनके साथ कैसा व्यवहार किया, कितनी सेवा की, उनके किन-किन अरमानो को पूरा किया, हम कितने आज्ञाकारी रहे उनके ? यदि उत्तर नकारात्मक रहे तो फिर हमे भी अपने बेटों से ऐसी कोई आशा/अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए।

बेटे तो प्रायः माँ-बाप का ही अनुकरण करते हैं न ? वे जैसा बचपन मे देखते रहते हैं, वैसा ही तो सोचते हैं; क्योंकि बालको का तो स्वभाव ही अनुकरणशील होता है ।"

सदासुखी के इस लम्बे भाषण ने विवेकी की जिज्ञासा को और भी अधिक जगा दिया । अतः उसने अधीर होकर कहा - "भाई सदासुखी! यह सब तो ठीक है, तुम्हारी एक-एक बात लाख-लाख की है, पर वह मूल बात तो कहो, जिसके लिए तुम यह इतनी लम्बी-चौड़ी भूमिका बना रहे हो। आखिर ऐसा क्या अनर्थ हो गया, जिसका तुम्हें इतना पश्चाताप हो रहा है ?"

सदासुखी ने कहा - "भाई ! यह बात तो पश्चाताप जैसी है ही, साथ ही दूसरा दुःख इस बात का है कि उनके जीते-जी मुझे अपनी इतनी बड़ी भूल समझ मे नही आई; अन्यथा मै तभी अपने पश्चाताप के इन आँसुओ से उनके चरण पखार कर अपने उस अपराध को कुछ कम तो कर ही सकता था ।" — यह कहते-कहते सदासुखी औरतो की तरह जोर-जोर से फूट-फूट कर रो पडा ।

सदासुखी को अत्यधिक भावुक देखकर विवेकी ने कहा - "भाई ! बीती बातो को याद कर-कर के अब इस तरह आँसू बहाने से कोई लाभ नहीं । अब तो उन बीती बातों को भूलने मे ही सार है ।

किसी ने ठीक ही तो कहा है —

'बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुध लेय'

**"भूल की पुनरावृत्ति न होने देना ही भूल का सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है । अतः भूत को भूल जाओ, वर्तमान को संभालो, भविष्य स्वयं संभल जायेगा ।"**

सदासुखी ने अपने आँसू पोंछते हुए कहा - "पुनरावृत्ति का तो अब प्रश्न ही नहीं, पर ---- ।"

"पर क्या" - विवेकी ने कहा ।

सदासुखी ने कहा - "यही कि अब तो वे इस दुनिया मे ही नही हैं ।"

"न सही यहाँ, वे जहाँ भी होगे, सुखी होगे; क्योकि जिनका मरण शान्त भावो से होता है, समतापूर्वक होता है; वे तो हमेशा सुखी ही रहते है ।" विवेकी ने आगे कहा - "तुम्हारे ही कहे अनुसार तुम्हारे माता-पिता का मरण भी समतापूर्वक हुआ है, शान्त भावो से हुआ है। अतः वे भी निश्चित ही उत्तम गति को प्राप्त हुए होगे ।

मै तो तुम्हारी उस घटना को जानना चाहता हूँ, जिसके कारण तुम इतने दुःखी हो, यदि तुम्हें असुविधा न हो तो कहो । उसे कह देने से तुम्हारा जी भी हल्का हो जाएगा और हो सकता है मुझे भी कुछ नवीन सीखने को मिल जाय ।"

सदासुखी ने दुःखी मन से अपनी कहानी कहना प्रारंभ किया - "मै अपने माता-पिता का इकलौता पुत्र था, इस कारण उनके भविष्य की आशा भी एकमात्र मै ही था । उन्होने मुझसे बहुत सारी आशाये लगा रखी थीं, नाना प्रकार के सुनहरे स्वप्न सजो रखे थे । अतः वे भी मेरी सभी आकाक्षाएँ पूरी करने मे सदैव तत्पर रहते थे । घर मे पैसे की कमी तो तब भी नहीं थी सो जब जो चाहा तत्काल मिलता रहा । पर इसका परिणाम अच्छा नही हुआ । एक बड़े बाप के इकलौते

बेटे मे जिन दुर्गुणों के आ जाने की संभावना रहती है, वे सब दुर्गुण धीरे-धीरे मुझमे भी आ गए ।

जैसे-जैसे समय बीतता गया, वे वृद्ध होते चले गये और मै युवा। उनका ग्रामीण रहन-सहन था और मुझे नये जमाने की हवा लग चुकी थी । फिर भी पिताजी ने कल-कारखानो का संपूर्ण कारोबार मेरे हाथो मे सौंप दिया था और माताजी ने घर की सब चाबियाँ मेरी धर्मपत्नी को सम्हला दी थी। इसके बाद तो वे माता-पिता के नाते हम लोगो को केवल सही सलाह देने की पवित्र भावना से ही बात किया करते थे । पिताजी मुझे नेक सलाह देने की सद्भावना से अपने जीवन का अमूल्य समय आफिस मे आकर बिताते थे और माताजी मेरी पत्नी को अपने जीवन भर के अनुभवो का लाभ देना चाहती थी, अतः बीमारी की हालत मे भी चौके मे पहुँच कर नये-नये व्यजन बनाकर बताना चाहती थी, पर उस समय हमारी बुद्धि पर ऐसे पत्थर पड गये थे कि हमने उनकी भावनाओ की कोई कदर नही की, उल्टा उनकी पवित्र भावनाओ का अनादर ही किया ।

एक बार तो हमारे द्वारा उनके प्रति ऐसा अक्षम्य अपराध बन गया था कि न वे उसे जीवन भर भूल पाये और न हम ही उसे आजीवन भूल सकेगे ।"

विवेकी ने पूछा - "ऐसी क्या भूल हुई जिसे तुम कभी नही भूल सकते ?"

सदासुखी ने पश्चाताप के आँसुओ से अपने अपराध का प्रक्षालन करते हुए कहा - "बात यो हुई, पिताजी प्रायः देहाती पोशाक मे धोती-कुर्ता पहिने एव सिर पर साफा (पगड़ी) बाधे कुर्सी पर पाँव रखे बैठे रहते थे । मेरे मित्र आते और मुझसे पूछते कि इस देहाती बूढ़े को हम कई दिनो से यहाँ इसीप्रकार बैठा देखते हैं, यह कौन है ?

पहले एक-दो दिन तो मै यो ही बातो-बातो मे टाल गया, पर प्रतिदिन कोई न कोई पूछे तो कहाँ तक टाला जा सकता था ? और उनके ग्रामीण रहन-सहन के कारण मेरे हृदय मे हीन भावना तो जागृत हो ही गई थी, अत· मैने यह कहना प्रारभ कर दिया कि-यह हमारे पिताजी के पुराने जमाने का नौकर है, बूढ़ा हो गया सो अब बेचारा जाए तो कहाँ जाए ? इस कारण दोनो समय घर पर भोजन करता है और आराम से यहाँ बैठा रहता है । इसने जिन्दगी भर हमारी सेवा की तो अपना भी तो कुछ कर्तव्य बनता है न ?"

यह बात जब पिताजी ने सुनी तो वे मन ही मन बहुत दु खी हुए और उन्होने कारखाने के आफिस मे आना ही बद कर दिया ।

इधर घर पर घरेलू कामो मे माताजी के हस्तक्षेप से मेरी पत्नी भी परेशान थी । अत एक दिन जब उसने मेरा मूड अच्छा देखा, मुझे प्रसन्न चित्त देखा तो भोजन करते समय वह बोली - "क्योजी, क्यो न माताजी व पिताजी की खटिया ऊपर के कमरे मे डाल दी जाये, ताकि उनकी यह रोज-रोज की चिक-चिक ही समाप्त हो जाये । 'फिर न रहेगा बॉस न बजेगी बॉसुरी ।'

मै तो उनकी बिना काम की बातो से परेशान हो गई हूँ । दिन भर कुछ न कुछ कहती ही रहती है ।

और हाँ, सुनो । कुम्हार से कह दिया जाय कि वह मिट्टी के चौडे से दो बर्तन प्रतिदिन दे जाया करे, जिनमे इन्हे दोनो समय का भोजन पप्पू के हाथ से भेज दिया करूँगी । उनके जूठे बर्तन रोज-रोज कौन साफ करे ? पप्पू से कह देगे सो वह उनके जूठे बर्तन फैंक दिया करेगा ।"

मुझे प्रश्नसूचक गभीर मुद्रा मे देखकर मेरी पत्नी ने अपनी बात जारी रखते हुए आगे कहा - "मुझे एक सबसे बडी समस्या यह भी है कि यहाँ बैठक मे एक तो इनके कारण पूरी सफाई नही रह पाती,

दूसरे, जो भी मिलने-जुलने आता है, वही पूछता है - यह देहातिन-सी बूढी औरत कौन है? आप ही बताइए - मै रोज-रोज क्या जवाब दूँ ? मै तो यह कहते-कहते थक गई हूँ कि यह हमारी सासूजी के जमाने की नौकरानी है, जिन्दगी भर यहाँ रही, अब कहाँ जाए ? यद्यपि इससे अब काम करते नही बनता, फिर भी बेचारी से जो भी बनता है, दिन भर करती ही रहती है। चार रोटियाँ, चार कपडे और चार हाथ जगह ही तो चाहिए इसे ।" इस तरह बाते बनाकर उनसे बडी मुश्किल से जान छुडा पाती हूँ ।"

उस की बात सुनकर मुझे जीवन मे उस दिन पहली बार ऐसा लगा कि "वाह । इस मे भी कुछ अकल तो है ही, जो उपाय मैने सोचा, वही इसने भी ।"

सदासुखी ने अपनी आपबीती कहानी सुनाते हुए आगे कहा - "उस समय उसकी यह बात मुझे भी जँच गई और हम दोनो ने मिलकर यह व्यवस्था कर दी ।

इस घोर अपमान का धक्का वे सह नही सके और उन्हें सीवियर हार्ट अटैक हो गया, गभीर दिल का दौरा पड गया । हम तो अपने स्वार्थ से उन्हे बेडरेस्ट कराने के बहाने एक कमरे मे कैद करने की योजना बना ही चुके थे, प्रकृति ने भी उन्हे परमानेन्ट कम्पलीट बेडरेस्ट करा दिया । उन्होने इसे भी अपने कर्मोदय का फल मानकर सहज होने का बहुत प्रयत्न किया, पर वे सपूर्णत· सहज रह नही पाये । वे जीवन के अन्त तक उस विषम परिस्थिति को ससार का स्वरूप जानकर एव अपने पापोदय का फल मानकर धैर्यपूर्वक झेलते रहे ।

जब पेट जाये सगे बेटे-बहू ने मिलने वालो के सामने अपनी झूठी आन-बान रखने के लिए, अपना मिथ्या अहंकार पुष्ट करने के लिए अपने देहाती माता-पिता को माता-पिता मानने से इकार करते हुए उन्ही के सामने उन्हे अपने खानदानी नौकर-नौकरानी कहकर उनके हृदय पर

वज्रपात जैसा हृदय-विदारक प्रहार किया हो, तब स्वाभिमानी माता-पिता के मन-मष्तिष्क पर विपरीत प्रभाव पड़ना तो स्वाभाविक ही था; क्योंकि उस असह्य हार्दिक वेदना को उनके द्वारा झेल पाना संभव नही था। उनकी वेदना को तो कोई सहृदय भुक्तभोगी माता-पिता ही समझ सकते थे । हम जैसे हृदयहीन नालायक बेटे-बहू उनकी उस मरणतुल्य मानसिक पीडा को क्या जाने ?"

हमारे इस व्यवहार से दुःखी होकर वे अर्द्धनिद्रा मे बडबड़ाते रहते थे; कहते रहते थे - "हे भगवान ! जमीन फट क्यो नही जाती, जिसमे हम समा जाये ? यह सब देखने-सुनने के पहले ही ये आँखे अधी और कान बहरे क्यो नही हो गये ? यह अपमान सहने के पहले ही ये सासे सदा के लिए थम क्यो नही गई ?

क्या यही दिन देखने के लिए नाना कष्ट सहकर हमने इस नालायक को नौ माह पेट मे, अठारह माह गोद मे और अठारह वर्ष घर मे सीने से लगाये रखकर, दिन-रात इसकी चिन्ताओ की चिता मे जल-जलकर, शरीर को सुखाया ? स्वय रूखा खाया और इसे मेवा-मिष्टान्न खिलाया, केसरिया दूध पिलाया । ऐसा करके क्या हमने सचमुच आस्तीन के साप को पाला है, काले नाग को दूध पिलाया है ?

क्या यही दिन देखने के लिए दिन-रात परिश्रम कर-कर के पैसा कमाया था, पानी की तरह पैसा बहाकर इसे पढाया-लिखाया था और इस योग्य बनाया था ? क्या यही अपमान के खून के घूँट पीने के लिए इसका इतने ठाट-बाट से विवाह किया था ?

अरे भगवान ! यह मानव क्या इसी तरह की सतान के लिए ऐसा तरसता-तड़पता है ? अपनी जान को जोखिम मे डाल-डाल कर अपना परभव बिगडने की परवाह न कर जैसे बने तैसे नीति-अनीति से सतान के सुख के लिए दिन-रात एक करता है ? और उसके बदले सतान देती है केवल अपमान, उपेक्षा और बे-मौत मरने की मजबूरी ।"

उन बूढ़े माँ-बाप की इस बड़बड़ाहट मे व्यक्त हो रही वचनातीत पीड़ा को वाणी देना तो दूर, कल्पनाओ की सीमा मे समेट पाना भी सभव नही है । जब कभी वह स्वय अपने बूढ़े माता-पिता की स्थिति से गुजरे और उसके बेटे-बहू उसके साथ भी वैसा ही उपेक्षित और अपमानजनक व्यवहार करे, सभव है तब कहीं उसमे कुछ अक्ल आये। पर उस समय तक तो सब कुछ चुक चुकेगा । तब फिर पछताने के सिवाय हाथ मे रहेगा ही क्या ?

वक्त यूँ ही व्यतीत होता रहा और थोड़े दिनो के अन्तराल से वे दोनो ही उस जीवन के बन्धन से सदा-सदा के लिए मुक्त हो गए ।

× × ×

दीपावली के लिए सफाई अभियान चल रहा था, उस प्रसग मे एक दिन जब हम ऊपर वाले कमरे मे गये तो यह देखकर दग रह गये कि कमरे के एक कोने मे उन सारे मिट्टी के कूँडों का ढेर लग रहा था, जिनमे हम अपने माता-पिता को खाना दिया करते थे ।

मुझे क्रोध आ गया और मैने क्रोधावेश मे डाँटते हुए बेटे से कहा- "क्यो रे पप्पू । तू इन्हें रोजाना क्यो नही फेंकता गया ? अब इनका इतना बड़ा ढेर जमा हो गया है । जिस फिकवाने के लिए मजदूर को कम से कम बीस-पच्चीस रुपये तो देने ही पड़ेगे न ?"

अत्यन्त भोलेपन से बेटा बोला - "पापा । इन्हें फैंकने की क्या जरूरत है ? ये तो बड़े काम के है ।"

"क्यो, क्या काम आयेगे ये ?"

"जब आप व मम्मी बूढ़े हो जाओगे तो ये ही आपके काम आ जावेगे न ?"

"क्या तू हमे इनमे खिलायेगा ?"

"पापा ! मैं रोज-रोज नये कूँडे कहाँ से लाऊँगा ? आप तो बड़े

आदमी है, सो प्रतिदिन नये-नये मँगा लेते । यदि मै न मँगा सका तो ?"

उसकी बात पूरी ही न हो पायी थी कि मैने पुनः डॉटते हुए कहा- "क्यो बे नालायक । तो क्या तू हमे इन सकोरो मे खिलायेगा ?"

उसने उसी भोलेपन से पुन. उत्तर दिया, "इसमे नालायकी की क्या बात है ? यह तो अपने कुल की रीति है न ? परिवार की परम्परा है न ? मुझे भी तो निभानी ही पडेगी न ?"

उसकी ये बाते सुनकर मै अवाक् रह गया । कुछ ही क्षणो मे माताजी एव पिताजी का सपूर्ण जीवनक्रम मेरे स्मृति-पटल पर उतर आया। और ज्योही मैने स्वय को उनके स्थान पर और अपने बेटे को अपने स्थान पर प्रतिस्थापित किया तो मेरे पैरो के तले से जमीन खिसकने लगी ।

"जिसप्रकार के जीवन जीने की कल्पना ही इतनी भयानक हो, वैसा जीवन जीने की मजबूरी कैसी होती होगी ?" इस विचार मात्र से मै भय, आशका और आत्मग्लानि के मिश्रित वेदन से कॉप उठा।

सदासुखी के इस आत्मालोचन मे विवेकी को भी अपने जीवन का प्रतिबिम्ब दिखाई पडा और उसकी समझ मे आ गया कि उसकी वर्तमान विपरीत परिस्थितियो की जड कहॉ है ?

अचानक वे दोनो ही उठे और अपनी-अपनी धुन मे अत्यन्त आत्मग्लानि के भावो से भरे भारी मन व भारी कदमो से अपने-अपने घर की ओर चल पडे ।

आज उनकी विदाई मे 'चलते है फिर मिलेगे' का उल्लास भरा अभिवादन दिखाई नही दिया । •

# ३

तीसरे दिन मै उसी उपवन मे उन वृद्ध व्यक्तियो से कुछ पहले पहुँच गया था । पिछले दो दिनो से उनकी बाते सुनते-सुनते मै तो उनके जीवन, व्यक्तित्व एव विचारो से बहुत कुछ परिचित हो गया था, पर वे मेरे बारे मे अभी कुछ भी नहीं जानते थे ।

हाँ, वे मुझे एकात मे अकेला बैठा देखकर सहज जिज्ञासावश कभी-कभी मेरी ओर देख लिया करते थे, इस कारण मेरा चेहरा अब उन्हे अपरिचित नही रहा था ।

यद्यपि मैने अपनी ओर से विगत दो दिनो मे कभी कोई ऐसा हाव-भाव व्यक्त नही होने दिया, जिसके कारण उनका ध्यान मेरी ओर आकर्षित होता, पर न जाने क्यो उस दिन उनके मन मे अनायास ही मुझसे परिचय करने की भावना बलवती हो गई ।

मै अपनी ऑखे बद किए अपनी धुन मे बैठा-बैठा विचारो के ताने-बाने बुन रहा था कि वे दोनो वृद्ध अनायास मेरे पास आकर खडे हो गये और मेरा ध्यान आकर्षित करते हुए बोले - "नमस्कार भाई जी !"

उन्हे अचानक सामने खडा देख पहले तो मै कुछ सकुचा-सा गया। फिर स्वय को सभालते हुए मैने उनके अभिवादन के उत्तर मे कहा- "जय जिनेन्द्र जी" । फिर आवभगत करते हुए मैने कहा आइए ! आइए ।। मै भी आप लोगो से बात करने की सोच रहा था, पर आपकी बातो का तो कभी अत ही नही आता, ओर-छोर ही नही होता। बाते पूरी होने की प्रतीक्षा मे ही सारा समय पूरा हो जाता है ।

पिछले दो दिनो से मै प्रतिदिन आपको यहाँ बैठा देख रहा हूँ और अनचाहे ही आप की दिलचस्प बाते सुन रहा हूँ । आप लोग बडे ही

जोर-जोर से बे-झिझक होकर दिल खोलकर अपने-अपने दुख-दर्द की एव दुनियादारी की बाते कर रहे है ।

इस बीच मुझे अनेक बार ऐसा विकल्प आया कि - "मै आप लोगो से मिलूँ और आपके सबध मे मेरे मन मे सागर की लहरो की तरह हिलोरे ले रहे अपने विचारो को आपसे कहूँ," पर आपके द्वारा दोनो ही दिन कोई न कोई ऐसा प्रसग छेड दिया गया है कि उसी मे समय पूरा हो गया । वैसे आपकी बाते भी कुछ ऐसी चित्ताकर्षक होतीं कि मै भी उन्हे सुनने का लोभ सवरण नही कर पाता ।

इसके अतिरिक्त यह भी विचार आता कि - "महाकवि कालिदास की नीति के अनुसार, 'दो जनो की बातो मे तीसरे को बोलना भी तो उचित नही है,' यह सोचकर भी मै आपके पास नही पहुँच पाया ।"

मैने आगे कहा - "मुझे आपकी बातो से कुछ ऐसा आभास हो रहा कि आप अपने पारिवारिक वातावरण से कुछ त्रस्त है, परेशान हैं। बुढापे मे अपने आप को असहाय-सा महसूस करते है । आप अपने जीवन से निराश हो चुके है; तग आ चुके है, इस कारण मुझे आशका होती थी कि कही ऐसा न हो कि इन सब कारणो से आप लोग कोई अनर्थ कर बैठें, आत्मघात करले ।"

बस, इसी सबध मे मै आप लोगो से कुछ कहना चाहता था, पर एक तो मुझे अवसर ही नही मिला, दूसरे मै इस असमजस मे था कि- "किसी को बिना मागे सलाह देना भी चाहिए या नही, क्योंकि लोक नीति मे इसे मूर्खता ही माना जाता है न !"

और अपरिचितों को सलाह देना तो और भी अनुचित है, नीतिविरुद्ध है। अतः कुछ भी सलाह देने जैसी बात करने के पूर्व कम से कम आपसे एक बार परिचय तो कर लूँ । मै इसी तलाश में था । चलो, अच्छा हुआ आप ही आ गये ।"

मुझे खादी के धोती-कुर्ता और टोपी के सादा भेष में देख सभवतः विद्वान समझकर सम्मानसूचक शब्दो मे सदासुखी ने कहा - "भाईजी!

आपके विचार तो बहुत ही उत्तम हैं । आप सभी के शुभचिन्तक तो है ही, न्याय-नीति का भी पूरा-पूरा ध्यान रखते है ।"

सदासुखी की बात समाप्त होते ही विवेकी ने कहा - "मैं तो आपके बारे मे कुछ और ही सोच रहा था ?"

मैने कहा — "क्या मै जान सकता हूँ कि आप वहाँ बैठे-बैठे मेरे बारे मे क्या सोचते थे ? आप लोगो ने मेरी ओर देखा तो अनेक बार है, निश्चित ही आप लोगो ने मेरे बारे मे कोई राय भी अवश्य बनाई होगी।"

विवेकी ने कहा — "हाँ मै तो यह सोच रहा था कि सभवतः आप भी हम जैसे ही घर-परिवार से उपेक्षित, मुसीबत के मारे, बूढ़े बैल की तरह घर से निष्काषित अपने को असहाय अनुभव करने वाले, मौत की प्रतीक्षा कर रहे कोई दुखिया प्राणी है । अन्यथा यहाँ परदेश मे अकेले आकर प्रतिदिन एकात मे ऐसे उदास-उदास से किसी पहुँचे हुए बैरागी सत की भाँति आँखे बद करके घटो नही बैठे रहते ।"

सदासुखी ने विवेकी की हाँ मे हाँ मिलाते हुए कहा - "मुझे तो आपको देखकर बार-बार यह विचार आता था कि यह व्यक्ति दीखता तो कोई विद्वान, विचारक या राजनेता है, पर किसी समस्या से परेशान जरूर है । अकेला बैठा-बैठा बोर तो होता ही होगा । कहीं ऐसा तो नही कि यह भी परेशानी से बचने के लिए हमारी तरह ही परेशान हो । और परेशानियो से छुटकारा पाने के लिए किसी कुँआ-बावड़ी की तलाश मे हो ? कभी-कभी परेशानियाँ अच्छे-अच्छे विद्वानो और विवेकियो को भी विचलित कर देती हैं। चलो, चल कर मालूम करते हैं, कौन है ? कहाँ से आया है ? कहाँ ठहरा है ? यहाँ दिन भर क्या करता है ? और बेचारा किस मुसीबत का मारा है ?

हमे आपके पहनावे से ऐसा लगा - "आदमी तो भला लगता है, अतः हमने विचार किया — "क्यो न इसे अपना साथी बनाले ? अपने साथ होने से यह भी अपनी बातचीत व गप-शप मे अपना दुःख

भूला रहेगा । और यदि बे-मौत मरने का विचार होगा तो वह विचार भी छोड़ देगा । बे-मौत मरने से कोई फायदा नही, हमने एक पुस्तक मे पढ़ा था कि 'जो कर्म किए है, उन्हे तो भोगना ही पडेगा, चाहे जीवित रहकर भोगो या मर कर ।' तब से हमने भी यह विचार छोड दिया है, अन्यथा परेशानियो मे ऐसे विचार तो हमे भी बहुत बार आये थे ।"

यह तो एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि - "सामाजिक और पारिवारिक प्राणियो को अकेलापन काटने को दौडता है । अतः आपको ऐसा अकेले बैठा देखकर हमने यह निश्चय किया कि क्यो न आपको भी अपना साथी बना ले, ताकि आपका समय भी चर्चा-वार्ता मे आसानी से कट जाया करेगा ।"

उन दोनो की बाते सुनकर मैने कहा - "भला, बे-मौत मरना भी कोई मरना है । यद्यपि मै पहले बहुत बार मरने की सोच चुका हूँ। एक-दो बार तो मै मरने से बाल-बाल ही बचा हूँ, सद्भाग्य से मुझे एक ऐसे सत्पुरुष का समागम मिल गया, जिनके कारण मेरी अमूल्य मनुष्य पर्याय सार्थक हो गई ।

उन्होने मुझे बताया कि - "भाई । ऐसी भूल कभी मत करना, क्योकि जिस दुख के भय से घबराकर तुम बे-मौत मरना चाहते हो, उस दुख से तुम्हे ऐसे बे-मौत मरने से भी छुटकारा नही मिलेगा ।

जो पाप-पुण्य हमने किये है, उनका फल तो भोगना ही पडेगा। इस जन्म मे नही भोगे तो अगले जन्म मे फिर वैसी ही परिस्थितियाँ बनेगी, और वहाँ फिर यही सब दुख सहने होगे ।"

उन सत्पुरुष ने यह भी बताया कि - "इस तरह की मौत बिना सक्लेश परिणामो के नही होती तथा सक्लेश परिणामो के साथ मरने से नियम से कुगति होती है । नरक, निगोद या तिर्यंच गति मे जाना पडता है, अतः ऐसी गलती कभी नही करना । तब से मैने बे-मौत

मरने का तो इरादा छोड ही दिया है । मै आप लोगो के पास इसी इरादे से आना चाहता था, अच्छा है आप पहले से ही सचेत है । भविष्य मे ऐसा कोई विकल्प आ भी जाये तो आप ऐसी गलती कभी नही करना।"

मैने उनसे आगे कहा - "भाई । मै भी सघर्षो मे ही पैदा हुआ, सघर्षो मे ही पला-पुसा और बड़ा हुआ हूँ, पढा-लिखा हूँ, मैने जीवन मे बहुत उतार-चढाव देखे हैं, सभी तरह के सघर्ष झेले है । अतः अब मै छोटे-मोटे सघर्षो से नही घबराता । यह सब तो पुण्य-पाप के खेल है, आती-जाती क्षणिक अवस्थाये है, इनसे क्या घबराना ?

एक कवि ने तो सघर्षो का स्वागत करते हुए यहाँ तक लिख दिया है -

'जितने कष्ट-कटको मे, जिसका जीवन सुमन खिला ।
गौरव-गध उन्हे उतना ही, यत्र-तत्र सर्वत्र मिला ।।

पर मेरे सद्भाग्य से वर्तमान मे मेरी सब पारिवारिक परिस्थितियाँ मेरे अनुकूल है । मुझे वर्तमान मे अपने परिवारजनो के कारण कोई विशेष कष्ट नही है । क्षणिक मोह-राग-द्वेष के कारण जो दूसरो के साथ छुट-पुट घटनाये या द्वद्व हो जाते है, उनको भी मै ससार का स्वरूप जानकर तथा सामने वाले का क्षणिक मनोविकार मानकर तत्त्वज्ञान के सहारे गौण कर देता हूँ, अपने पर नियत्रण करके मै किसी तरह टाल देता हूँ और बाद मे जब अपराधी का क्रोधावेश समाप्त हो जाता है और विवेक जागृत होता है तो वह अपने अपराध को स्वीकार कर स्वय ही मेरे पास क्षमा याचना की मुद्रा मे आकर खडा हो जाता है।"

मेरा यह प्रयोग बहुत ही सफल सिद्ध हुआ है । यदि आप लोग भी यह प्रयोग करे तो मै समझता हूँ आपकी पारिवारिक परेशानियाँ भी कम हो सकती है ।

अरे । आप ही सोचिए न । "मोह राजा के साम्राज्य मे यह सब कषायचक्र नही चलेगा तो और कहाँ चलेगा ? पर यह सब स्थाई

नही है, नियम से मरने वाला है । क्षण भर बाद चले जाने वाले मनोविकारो के चक्कर मे फस कर अपने आत्मा का घात क्यों करें ?"

मैने आगे कहा - "आपको यह ज्ञात होना चाहिए कि यह मनुष्य पर्याय, उत्तमकुल व जिनवाणी का श्रवण उत्तरोत्तर दुर्लभ है ।

अनन्तानन्त जीव अनादि से निगोद मे हैं, उनमे से कुछ भली होनहार वाले बिरले जीव भाड़ मे से उचटे बिरले चनो की भांति निगोद से एकेन्द्रिय आदि पर्यायो मे आते है। वहाँ भी वे लबे काल तक पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु एव वनस्पतिकायो मे जन्म-मरण करते रहते है। उनमे से भी कुछ बिरले जीव ही बड़ी दुर्लभता से दो-इंद्रिय, तीन-इद्रिय, चार-इद्रिय एव पचेन्द्रिय पर्यायो मे आते है। यहाँ तक तो ठीक, पर इसके बाद मनुष्यपर्याय, उत्तमदेश, सुसंगति, श्रावककुल, सम्यक्दर्शन, संयम, रत्नत्रय की आराधना आदि तो उत्तरोत्तर और भी महादुर्लभ है।

अतः इस तरह वर्तमान दु:खो से घबड़ाकर बे-मौत मरने की भूल कभी नहीं करना । अन्यथा अपघात करने का फल जो पुनः नरक निगोद मे जाना है, उससे कोई नही बचा पायेगा ।"

मेरी ये प्रेरणाप्रद बाते सुनकर वे दोनो मित्र गद्-गद् हो गये ।

अश्रुपूरित नयनो से विवेकी ने कहा - "धन्य है आप । हम लोग आपके बारे मे क्या सोचकर आये थे और आप क्या निकले । आप तो वस्तुतः बहुत सुलझे हुए विचारवान चिन्तक पुरुष है । आपने तो हमारी आँखे ही खोल दी है । कहिए, यहाँ आप कहाँ ठहरे है ? वहाँ आपको कोई कष्ट तो नही है, सब कुशल मगल तो है न ?

मैने उन्हे अपना सामान्य परिचय देते हुए कहा - "भाई । यदि रहीम कवि की नीति पर मै चलूँ उनकी नेक सलाह मानूँ तो मुझे यही कहना चाहिए कि- 'नही-नही मुझे कोई कष्ट नही है, आप लोगो के आशीर्वाद से मै पूर्णतः सानन्द हूँ ।'

वस्तुतः हर किसी के सामने अपने दिल का दर्द या मन की व्यथा कहने से कोई लाभ नही है । इस मशीनी युग मे किसी को न तो

किसी के कष्ट सुनने की फुरसत है और न उन्हे सहयोग करने व सहानुभूति प्रदर्शित करने को ही समय है । अतः किसी से कुछ कहना, 'भैंस के आगे बीन बजाना' है, अरण्य-रुदन करना है।

आज कुशल-क्षेम पूछना भी मात्र औपचारिकता बन कर रह गया है, एक रिवाज-सा हो गया है, किसी को किसी की वास्तविक कुशल-क्षेम से कोई लेना-देना नही है । अतः औपचारिक तौर पर तो यही उत्तर उत्तम है । पर, वास्तविकता इससे बिल्कुल जुदी है, जिसे हम भूधर कवि कृत जैनशतक की निम्नांकित पंक्तियो मे देख सकते है :-

जोई दिन कटै, सोई आयु में अवश्य घटै;
बूँद-बूँद बीते, जैसे अंजुलि कौ जल है ।
देह नित छीन होत, नैन तेज हीन होत;
जीवन मलीन होत, छीन होत बल है ।
आवै जरा नेरी, तकै अंतक अहेरी;
आबै परभौ नजीक, जात नर भौ निफल है ।
मिलकै मिलापी जन, पूछत कुशल मेरी;
ऐसी दशामांहीं मित्र ! काहे की कुशल है ॥37॥

यदि इस ससार मे पुण्यात्मा से पुण्यात्मा जीव भी कुशल-मगल होता, पूर्ण सुखी होता तो यही मोक्ष होता, फिर मोक्ष के लिए कोई प्रयत्न ही क्यों करता ?

इस प्रकार हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि तत्त्वज्ञान के बिना ससार मे कोई सुखी नही है । अतः हमे हर हालत मे मात्र तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का ही प्रयत्न करना चाहिए ।"

मेरे इन विचारो को सुनकर विवेकी एव सदासुखी बहुत प्रभावित हुए और उन्होने अनुरोध किया कि जब तक आप यहाँ रहें, तब तक अपने सत्समागम का लाभ अवश्य देते रहें । •

# ४

जब मैने स्वय उस उपवन मे विवेकी और सदासुखी के मुख से ही उनके वैयक्तिक जीवन की समालोचना सुनी और उन्हे अपनी भूलो पर पश्चाताप करते देखा तो मेरे ह्रदय मे उन्हे और उन जैसे ही अन्यजनो को समझाने की भावना हुई । अत मैने कहा- "पुरुषो की बहत्तर कलाओ मे केवल दो कलाओ को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है । एक जीविका और दूसरी जीवोद्धार । कहा भी है -

**कला बहत्तर पुरुष की, तामे दो सरदार ।**
**एक जीव की जीविका, दूजी जीवोद्धार ।।**

जब-जब इस लोकोक्ति पर दृष्टिपात करता हूँ, विचार करता हूँ तो पाता हूँ कि अधिकाश व्यक्ति तो पहली कला - आजीविका को अर्जित करने मे ही अपनी सपूर्ण शक्ति लगा देते है और इसमे सफल होने मे ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते है । दूसरी जीवोद्धार की जो महत्त्वपूर्ण कला है, उस पर तो वे जीवन के अत तक भी ध्यान नही देते ।

पर, जहॉ जीविका की कला हमारी वर्तमान आर्थिक समस्याओ का समाधान करती है, वही जीवोद्धार की कला हमारे जन्म-जन्मातरो के दु.खो को दूर करके सच्चा सुख प्रदान करती है । अत. जीविका से अधिक महत्त्व जीवोद्धार को मिलना चाहिए ।"

मेरी बात पूरी ही नही हुई थी कि विवेकी बोले- "भाईजी । आपका कहना सच है, पर जब तक जीविका स्थिर नही होती, परिवार के उत्तरदायित्वो से मुक्ति नही मिल जाती, तब तक जीवोद्धार की बात सूझती ही कहॉं है ? जिससे जीवोद्धार की बात करो, वही कहता है- "भूखे भजन न होय गोपाला, यह लो अपनी कठी माला ।"

विवेकी की इस बात को मद्देनजर रखकर मैने कहा - "यद्यपि स्थिर जीविका के बिना जीवोद्धार की बात सभव नही है, आजीविका की भी मानव जीवन मे महत्त्वपूर्ण भूमिका है । कम से कम रोटी, कपड़ा और मकान की प्राथमिक आवश्यकताओ की समस्याओ का समाधान तो होना ही चाहिए । पर, वह हमारे हाथ मे है कहाँ ? वह तो अपने-अपने प्रारब्ध के अनुसार ही मिलती है । चीटी को कण और हाथी को मण सुबह से शाम तक अपने-अपने भाग्यानुसार मिलता ही है । इसमे आदमी की बुद्धि अधिक काम नही आती ।

राजा सेवक पर कितना ही प्रसन्न क्यो न हो जाये, पर वह सेवक को उसके भाग्य से किंचित् भी अधिक धन नही दे सकता । दिन-रात पानी क्यो न बरसे, तो भी ढाक की टहनी मे तीन से अधिक पत्ते नही निकलते है । कहा भी है :-

तुष्टो हि राजा यदि सेवकेभ्य.,<br>
भाग्यात् पर नैष ददाति किंचित् ।<br>
अहिर्निशं वर्षति वारिवाहा,<br>
तथापि पत्र त्रितयः पलाशः ॥

यद्यपि उद्योग मे उद्यम की प्रमुखता है, पर उद्यम भी तो होनहार का ही अनुसरण करता है, अन्यथा आज सभी उद्यम करने वाले करोडपति से कम नही होते । आज ऐसा कौन है जो बडा आदमी बनने का, करोडपति बनने का उद्यम नही कर रहा ? पर उनमे कितने करोडपति हो गये? जब भाग्य साथ नही देता तो अच्छे-अच्छे बुद्धिमानो की बुद्धि भी कुछ काम नही करती ।

वैसे भी 'दाने-दाने पर लिखा है खाने वाले का नाम' इस उक्ति के अनुसार सबकी आजीविका तो भाग्यानुसार पहले से ही निश्चित है। यह न केवल लोकोक्ति है, गोम्मटसार व समयसार जैसे आगम व अध्यात्म ग्रथ भी इसका समर्थन करते है । अतः जीविका मे ही सारी शक्ति

लगा देना और जीवोद्धार को कुछ भी समय नहीं निकालना अच्छी बात नहीं है ।" अस्तु !

यह तो सिद्धान्त की बात है कोई माने या न माने, उसकी मर्जी। हमें इससे क्या ?

पर सदासुखी और विवेकी के बीच हुई बातचीत से तो स्पष्ट पता चलता था कि अब उनके सामने आजीविका की कोई समस्या नहीं रही। भले ही उन्हें आजीविका के लिए पहाडी इलाके मे जाकर बसना पड़ा हो, पर अब वे वहाँ आजीविका से तो पूर्ण निश्चिंत है । पर्यटको के आवागमन से उनका व्यापार-धधा यहाँ अच्छा चल निकला है।

यद्यपि उन्होने अपने इस व्यवसाय मे अधिक अक्ल नही लगाई थी और न ऐसा कोई भारी उद्यम ही किया था । सहज भाव से रोजी-रोटी चलती रहे, बस इसी विचार से छोटी-छोटी दुकाने लगा ली थी । भाग्योदय हुआ तो उन्ही दुकानो मे वे मालामाल हो गये और कल-कारखाने तक खुल गये। सो ठीक ही है :-

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायोऽपि तादृशः ।
सहाया स्तादृशः सन्ति, यादृशी भवितव्यता ॥

जैसी होनहार होती है, वैसी ही बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, उद्यम भी उसी दिशा की ओर होने लगता है, सहायक भी वैसे ही मिल जाते है ।

ऐसे विचार से विज्ञ व्यक्ति आजीविका की अधिक चिन्ता नहीं करते। पर ऐसी विज्ञता का अभी उनमे अभाव था ।

× × ×

'पहला सुख निरोगी काया, दूजा सुख हो घर मे माया' । इस लोकोक्ति के अनुसार यद्यपि सदासुखी बाहर से सुखी दिखाई देते थे, पर वस्तुतः अन्दर से वे अभी भी बहुत दुःखी थे, काफी परेशान थे ।

जो भी सदासुखी की तरह सयोगो मे सुख की खोज करेगा, उसे तो निराश होना ही पडेगा, क्योंकि संयोगो मे सुख है ही कहाँ, जो

उसे मिले। सयोगो में न तो सुख है और न दुःख ही है । सासारिक सुख-दुःख तो संयोगी भावो से होता है, सयोगो मे इष्ट-अनिष्ट कल्पनाए करने से होता है । सयोगो मे वस्तुतः सुख है ही कहाँ, वह तो सुखाभास है, दुःख का ही बदला हुआ रूप है ।

सच्चे सुख की यदि खोज की जाये तो वास्तविक सुख का सागर तो अपना भगवान आत्मा ही है, जिसकी सदासुखी को पहचान ही नही थी ।

विवेकी बाबाजी भी जीवनभर ठोकरे खाते-खाते बाते तो विवेकियों जैसी ही करने लगे थे, पर अभी उन्हें भी वास्तविक विवेक (तत्त्वज्ञान) की प्राप्ति नही हुई थी । इस कारण वे भी सपन्न होते हुए भी सुखी नही थे ।

जीवन भर पडौसी रहने से उन दोनो मे परस्पर अच्छी मैत्री हो गई थी, वे दोनो ही वृद्ध भी हो चुके थे । अतः उनका धधा-व्यापार और कल-कारखाने तो सब उनके लडको ने सभाल ही लिये थे, उनका शरीर भी अब इस योग्य नही रहा था कि वे व्यापार में बच्चो का कुछ भी सहयोग कर सकें ।

एक दृष्टि से तो यह अच्छा ही हुआ कि अब उन्हें आत्मोद्धार करने का पूरा-पूरा सुअवसर प्राप्त हो गया था, पर कोई उस शेष जीवन का भी जीवोद्धार मे उपयोग करे तब न ? अधिकाश तो जीविका मे ही अटके रहते हैं ।

यह भी पुण्य का उदय ही समझना चाहिए कि उन्हें कोई राजरोग नही था, पर बुढ़ापा स्वय भी तो अपने आप मे एक बीमारी है, जिससे कोई नही बच सकता । जन्म, जरा (बुढ़ापा) एव मृत्यु - ये तीन ऐसे ध्रुव सत्य हैं कि जिनसे कोई इंकार नही कर सकता । इनका सामना तो समय-समय पर सबको करना ही पडता है । बस, हमे तो केवल यह देखना है कि ये तीनो अवस्थाये सुखद और सार्थक कैसे हो सकती हैं ? बुढ़ापे की बीमारी से वे दोनो ग्रसित हो गये थे । शरीर क्षीण

होने के साथ उनका पुण्य भी क्षीण हो चला था। जिसतरह जब सरोवर सूखता है तो सब ओर से ही सूखता है, उसी तरह जब पुण्य क्षीण होता है तो सब ओर से ही क्षीण होता है ।

सदासुखी व विवेकी इसी स्थिति मे आ चुके थे । अब उन्हे क्या घर पर और क्या दुकान पर – दोनो ही जगह दो हाथ जमीन भी गौरव के साथ बैठने के लिए नसीब नही रही थी । दुकान पर जाते तो बेटे घर पर आराम व स्वाध्याय करने का उपदेश देते और जब घर होते तो न केवल बहू-बेटियाँ, बल्कि नाती-पोते तक उन्हे भगवान का भजन-पूजन करने और प्रवचन सुनने व सत्सग करने हेतु तीनो समय मदिर जाने की सलाह दिया करते ।

उनके परिवार मे किसी को उनके आराम व कल्याण की किंचित् भी परवाह नही थी और न स्वय परिजनो को भी भगवान के भजन-पूजन, स्वाध्याय व सत्सग से कोई सरोकार था । उन्हे तो केवल उन बूढो की घर व दुकान पर उपस्थिति अभीष्ट नही थी, क्योकि एक तो किसी भी काम मे उनकी टोका-टोकी पसद नही थी और दूसरे, दुकान मे जगह की कमी तो थी ही, अत· बिना काम व्यर्थ मे ही कोई थोडी-सी भी जगह क्यो घेरे ? तीसरी मुख्य बात यह थी कि - बहू-बेटियाँ व नाती-पोते अपने स्वच्छन्द आचरण मे उन्हे बाधक मानते थे, अतः वे उन्हे आँख की किरकिरी की तरह खटकने लगे थे ।

इस तरह घर व दुकान – दोनो जगह से उपेक्षित वे दोनो अपने-अपने घर के बाहर के बरामदो मे बैठे-बैठे ऊब भी जाते थे । अत· शाम होते ही उनका सैर-सपाटे का मन होना स्वाभाविक ही था । सो शाम होते ही वे मन बहलाने और जी हल्का करने के लिए उसी उपवन मे पहुँच जाते ।

यद्यपि सदासुखी और विवेकी को रहीम कवि का यह दोहा बहुत अच्छी तरह याद था –

**रहिमन निज मन की व्यथा, मन ही राखो गोय ।**
**सुन इठिलैहै लोग सब बाट न लैहें कोय ॥**

विवेकियो को अपने मन की व्यथा अपने मन मे ही रखनी चाहिए। हर किसी से कहनी नही चाहिए ; क्योकि दूसरो से कहने से कोई लाभ नही होता, अपनी व्यथा को न तो हर कोई समझ ही सकता है और न कम ही कर सकता है । जिससे भी हम अपने दिल का दुःख-दर्द कहेगे, वह या तो राग-द्वेष व अज्ञानवश हमारा ही दोष बताकर हमे और अधिक दुखी कर देगा या फिर हमे दीन-हीन दुःखी, मुसीबत का मारा मानकर दयादृष्टि से देखेगा । हमारी और हमारे परिवार की कमजोरियो को यहाँ-वहाँ कहकर बदनामी भी कर सकता है और हमारी कमजोरियो का गलत फायदा भी उठा सकता है ।

इन सब हानियो को जानते हुए भी उनसे रहा नही जाता था, क्योकि परिवार की उपेक्षा से उनका मन दिनभर मे इतना बोझिल हो जाता कि उन्हे आपस मे अपना दुःख-सुख कहे बिना चैन नही पड़ती। उन्हे ऐसा लगने लगता था कि यदि वे अपने मन के गुब्बार नही निकालेगे तो कही पागल न हो जाएँ । अतः वे शाम को घूमने-फिरने के समय अपने-अपने मन की बाते कहकर मन हल्का कर लिया करते थे । यदि उनके बेटे-बहुओ मे कोई जरा भी समझदार होता तो सभवत· स्थिति यहाँ तक नही पहुँचती कि उन्हे घर की बात बाहर कहने को मजबूर होना पडता ।

भले ही वे पढ़े-लिखे नही थे, विद्वान नही थे, पर निरे बुद्धू भी नही थे, बल्कि वे बुद्धिमान थे, समझदार थे । जीवन मे अनेक उतार-चढ़ाव देखे थे, अतः लौकिक दृष्टि से अनुभवी भी हो गये थे ।

**व्यक्ति विद्वान न हो तो भी बुद्धिमान हो सकता है; क्योंकि विद्या अर्जित ज्ञान को कहते हैं और बुद्धि जन्मजात प्रतिभा को,** जो उनमे थी, अन्यथा वे अपने जीवन मे इतनी उन्नति कैसे कर लेते ? इस कारण

उनकी सभी बाते कोरी गप-शप नही होती थी । बहुत-सी बाते दूसरो के लिए बहुत उपयोगी, शिक्षाप्रद और प्रेरणादायक भी होती थी । वे कभी-कभी धार्मिक चर्चा भी छेड दिया करते थे । पर उनकी धार्मिक चर्चा तत्त्वज्ञान से शून्य होने के कारण अधूरी होती थी ।

इस कारण जब तक मै वहाँ रहा, प्रतिदिन उनके खट्ठे-मीठे अनुभवों को सुनने तथा उनके जीवन मे आध्यात्मिक परिवर्तन लाने के उद्देश्य से वहाँ नियम से जाता रहा, जहाँ वे बैठकर बाते किया करते थे ।•

# ५

वह पहाड़ी प्रदेश प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से तो श्रेष्ठ था ही, अध्ययन-मनन व चिन्तन की दृष्टि से भी बहुत उपयुक्त था । अत्यन्त शात व एकात होने से मेरा मन तो वहाँ कुछ दिन और ठहरने का था ही, सयोग से विवेकी व सदासुखी जैसे दुखी, जिज्ञासु व ससार से उदास-विरक्त व्यक्तियो का सपर्क हो जाने से उनके निमित्त से भी शेष समय का सदुपयोग करने का सुअवसर मिल गया !

सदासुखी व विवेकी बुद्धिमान व्यक्ति थे, अतः थोड़े ही दिनो मे वे चर्चाये तो बड़ी ऊँची-ऊँची अध्यात्म की करने लगे । वे न केवल गहरी तत्त्वचर्चा करते, सन्यास लेने की बाते भी करने लगे । सन्यास लेने की बाते है तो बहुत अच्छी; पर उसे कोई यथार्थ रूप से ग्रहण कर सके तब न! अधिकाश तो ऐसे लोगो का मरघटया वैराग्य ही होता है । अतः मैने उन्हे और थोडा टटोलने की कोशिश की ।

मैने सोचा - "कही सचमुच ऐसा न हो कि सच्चे वैराग्य के बजाय ये लोग पारिवारिक परिस्थितियो से परेशान होकर कही किसी से द्वेष या घृणा करने लगे हो और ये स्वय भ्रम से उसे ही वैराग्य मान बैठे हो ।

इन परिस्थितियो मे भी लोग सभ्य भाषा मे ऐसा ही बोलते है । न केवल बोलते है, कभी-कभी उन्हें स्वय को ऐसा लगने भी लगता है कि वे विरागी हो रहे हैं, जबकि उन्हे वैराग्य नहीं, वस्तुतः द्वेष होता है । केवल राग अपना रूप बदल लेता है, वह राग ही द्वेष मे परिणित हो जाता है, जिसे वे वैराग्य या सन्यास समझ लेते हैं ।"

जब मैने उनके अन्तर्मन को और गहराई से टटोला तो ज्ञात हुआ कि वस्तुतः वे सघर्षो का सामना न करके उनसे घबराकर पलायन कर

रहे थे । तत्त्वज्ञान के अभाव मे भला कोई सन्यास की ओर अग्रसर कैसे हो सकता है?

मेरे आत्मीय व्यवहार से उन्हे ऐसा लगा, मानो मै उनसे चिर-परिचित हूँ । अत. उन्होने आत्मीयता दिखाते हुए कहा — "भाई । क्षमा करना, हमे याद नही आ रहा कि हम आपसे इसके पहले कब/कहाँ मिले ? पर मिले कही अवश्य है ।"

मैने उनसे कहा — "मै आप लोगो की बाते पिछले चार दिनो से सुन रहा हूँ बस, उन्ही बातो से मै आपके नाम, व्यक्तित्व एव विचारो से परिचित हुआ हूँ । मेरे ध्यान से तो मेरा आप लोगो से सभवतः यह प्रथम परिचय ही है । पर आप लोग मुझे भी चिर-परिचित से ही लगते है ।

यद्यपि लोकनीति के अनुसार प्रथम परिचय मे मुझे आपसे उपदेश की भाषा मे किसी प्रकार की बात नही करनी चाहिए, पर आप लोगो के प्रति मुझे सहज धर्मस्नेह हो गया, अत मै दु साहस करके कुछ कहना चाहता हूँ, इसके लिए मै क्षमा चाहता हूँ ।"

मेरी बात सुनकर सदासुखी ने अत्यन्त विनम्रता से कहा — "आप कैसी बाते करते है । यह तो हमारा परम सौभाग्य है जो हमे आप जैसे सत्पुरुष का सहज समागम हो गया है । आप जो भी कहना चाहे, अवश्य कहे । हमे तो आपकी सलाह से कुछ न कुछ लाभ ही होगा ।"

मैने कहा — "आप लोग अपने जीवन मे हुई भूलो पर पश्चाताप करके अपने पापो का प्रक्षालन करने एव दोषो को दूर करने का जो प्रयास कर रहे है, वह तो बहुत अच्छी बात है, पर अभी तक आपने केवल अपने पारिवारिक जीवन की ही समीक्षा की है, अपने परलोक की दृष्टि से भी तो अपनी सम्यक् समालोचना कीजिए । उसके बिना सन्यास व समाधि की प्राप्ति होना कैसे सभव है ?"

साथ ही जब मैने उन्हे अपना सामान्य-सा परिचय दिया तो विवेकी ने कहा — "ओह । आप तो लेखक भी है ? मैने आपकी कई पुस्तकें

पढ़ीं है। तभी तो मैने मन ही मन सोचा कि "मैने आपको पहले भी कही देखा है । अब याद आया कि मैने आपको प्रत्यक्ष नही, परोक्ष रूप मे पुस्तको मे देखा है ।

भाई ! अब तो आप हमारे परोक्ष गुरु भी हैं, हमने तो आपकी पुस्तको से बहुत कुछ सीखा है । पर प्रत्यक्ष गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता। पुस्तके कोई कितनी भी क्यो न पढ ले, पर प्रत्यक्ष चर्चा से जो स्पष्टीकरण होता है, वह स्वय पढ़ने से नही । यह बात अवश्य है कि गुरु तो कभी-कभी ही मिल पाते है और जिनवाणी तो नित्यबोधक है, सदा अपने साथ है, जब मन मे आये पढ़ो । मै गुरु की महिमा बताकर जिनवाणी की उपयोगिता से इकार नही कर रहा हूँ । फिर आपका लिखने का ढग तो समझाने जैसा ही सरल होता है । अत. पढने का महत्त्व अलग है और सुनने का अलग। दोनो एक-दूसरे के पूरक है, विरोधी नही ।

जब आपसे प्रत्यक्ष परिचय हो ही गया है तो अब तो आप हमे यह बता कर ही जाइए कि हमे अपने शेष जीवन को कैसे जीना चाहिए ?

हमने अपने जीवन मे इस जगत के स्वरूप को अच्छी तरह देख-परख लिया है, अतः अब हमारा जी इस जगत से ऊब गया है । सारा जगत स्वार्थी है, कोई किसी का नही है । चाहे वह जीवन भर साथ निभाने की कसमे खाने वाली पत्नी हो या भाई-भतीजे हो । क्या पत्नी और क्या पुत्र-पौत्र, सभी अपने-अपने सुख के सगाती है, स्वार्थ के साथी है । शास्त्रो मे भी जगह-जगह यही सब कहा है । देखिये वैराग्य भावना की कुछ पक्तियाँ-

**कमला चलत न पैंड़, जाय मरघट तक परिवारा ।**
**अपने-अपने सुख को रोवें, पिता-पुत्र-दारा ॥**

प्राणात होने के बाद कमला (धन-दौलत) जीव के साथ एक कदम भी तो नही जाती । जहाँ की तहाँ पडी रहती है । परिजन-पुरजन भी केवल मरघट तक जाकर लौट आते हैं । पुत्र-पौत्रादि कुटम्बीजन तीन दिन बाद अपने-अपने धधे मे लग जाते हैं और तेरह दिन बाद

तो मानो उन सबके फिर सुनहरे दिन लौट आते है और सब अपने-अपने राग-रग मे मस्त हो जाते हैं । फिर कौन किसको याद करता है ?

जो बाद मे भी यदा-कदा रोते दिखाई देते है, वे भी सब अपने-अपने स्वार्थो की ही याद कर-कर के रोते है । कहाँ तक गावे इस स्वार्थी जगत की गाथाओ को ?

अतः हम सन्यास धारण कर आत्मसाधन द्वारा सम्यक् समाधि से अपने जीवन को सुखमय बनाना चाहते है । भला यह भी कोई जीवन है ? जिसमे सघर्ष ही सघर्ष हो, एक क्षण को भी शाति न मिले । ऐसी कषायाग्नि मे जलना अब हमे एक क्षण को भी अभीष्ट नही है। अतः आप हमे सन्यास और समाधि का स्वरूप भी समझा दीजिए।"

उनकी सन्यास व समाधि लेने की तीव्र भावना को देखकर उनके परिणामो की यथार्थ स्थिति जानने के लिए मैने कहा - "देखो, धर्म हमें जीवन-सघर्ष से पलायन करना नही सिखाता, बल्कि वह पर्याय का सत्य समझाकर उसके साथ समतापूर्वक समायोजन करना, समझौता करना सिखाता है ।"

किसी कवि ने तो ऐसे पलायनवादियो को झकझोरते हुए यहाँ तक कह दिया है –

जिनसे घर माहि कछू न बन्यों, वे बन जाहि कहा करि है ?

जो घर मे, कषायो के कारण उत्पन्न हुई पारिवारिक जीवन की छोटी-छोटी प्रतिकूलताओ का धीरज के साथ सामना नही कर सकता, वह मुनिजीवन की कठोर साधना कैसे करेगा ? तथा प्राकृतिक परीषहो और परकृत उपसर्गो को कैसे सहेगा ?

जीवन तो सघर्षो का ही दूसरा नाम है । और सघर्षो का जन्म बाहर मे नही, अन्तर मे होता है । तत्त्वज्ञान के अभ्यास से जैसे-जैसे कषाये कृश होगी, राग-द्वेष की कारणभूत इष्टानिष्ट कल्पनाएँ भी सीमित होगी, सघर्ष भी सीमित होते जायेगे तथा कषायो का शमन जीवन से पलायन करने से नहीं, सत्य को समझने और उसे स्वीकार करने से होता है। अत: सर्वप्रथम पूरी शक्ति से सत्य को समझने मे जुटना होगा।

इसके लिए सबसे पहले शास्त्राभ्यास के द्वारा हमें तत्त्वनिर्णय करना होगा, ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना होगा, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के यथार्थ स्वरूप को समझना होगा, फिर जो पर की प्रसिद्धि मे ही मात्र निमित्त हैं, ऐसी पाचो इद्रियो, मन और इनके विषयो पर से अपनी रुचि को हटाकर आत्म-सम्मुख करना होगा, तभी सन्यास एव समाधि की पात्रता प्राप्त होगी। यही से होता है सन्यास एव समाधि का शुभारंभ।

अत· आप लोगो को आज ही नियमित स्वाध्याय करने का सकल्प कर लेना चाहिए । ज्ञान ही सर्व समाधानकारक है, जो केवल स्वाध्याय से ही प्राप्त हो सकता है । जिसे समता से, निष्कषायभाव से जीना नही आता उसका मरण समाधिपूर्वक कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता, क्योकि निष्कषायभाव या शात परिणाम होने का दूसरा नाम ही तो समाधि है ।

अतः जिसे अपने मरण को समाधिपूर्वक सम्पन्न करना है, उसे अपने स्वस्थ जीवनकाल मे ही समाधि करनी होगी । समाधि ऐसी कोई सजीवनी घुट्टी नही है, जिसे केवल मरते समय पिलाने से काम चल जाय । यह तो आत्मा की साधना है, आराधना है, जीवन जीने की कला है जिसकी जीवन भर साधना की जाती है ।

इसी पवित्र भावना से जब मैने एक बार समाधि पाठ सुनने की भावना व्यक्त की तो इस अज्ञानी जगत ने उस घटना को किस रूप मे लिया – वह भी एक सुनने लायक मनोरजक किस्सा बन कर रह गया ।"

सदासुखी और विवेकी दोनो ही मेरे उस किस्से को सुनने का आग्रह करने लगे, किन्तु समय अधिक हो जाने से मै उन्हें उस दिन वह किस्सा नही सुना पाया । अगले दिन सुनाने का आश्वासन देकर मैने उनसे विदा ले ली । वे अपने मन मे उस किस्से को सुनने की अभिलाषा लिए उस दिन अपने-अपने घर चले गये । •

# ६

अषाढ मास का शुक्ल पक्ष था, समुद्र से मानसून उठने लगा था। बादल उमड-घुमड़ रहे थे, बिजली कडक रही थी, दो दिन से तो सूर्य के दर्शन भी नही हो रहे थे । मेरे प्रवास के छठवे दिन सवेरे से ही घनघोर घटाये छा गई, मध्यान्ह तक तो उमस रही, पर अपरान्ह होते-होते मूसलाधार वर्षा प्रारभ हो गई, जो शाम तक थमी ही नही। सब ओर जल ही जल दिखाई दे रहा था । छोटे-बडे नदी-नाले भी उफन रहे थे, सडको पर घुटनो पानी था । ऐसी स्थिति मे उस दिन सैर-सपाटे को निकलने की तो कोई सोच भी नही सकता था, सभव भी नही था ।

बूढे-बच्चे — सभी अपने-अपने घरो के छज्जो से, दरवाजो, खिडकियो एव झरोखो से झाँक-झाँक कर वर्षा का आनद ले रहे थे, पर सदासुखी और विवेकी बैचेन थे, वे प्रतीक्षा कर रहे थे कि पानी थोडा-सा भी थमे तो वे मेरे निवासस्थान पर आ जावे, क्योकि उन्हे मुझसे वह किस्सा सुनने की उत्सुकता थी, जो मै पिछले दिन उन्हे समयाभाव के कारण सुना नही सका था । एतदर्थ उनके एक घटे के अन्दर तीन-तीन फोन आ चुके थे, जो उनकी आतुरता के परिचायक थे ।

ज्योही बरसात थोडी-सी थमी नही कि वे दोनो मेरे आवास पर आ धमके और आते ही विवेकी बोला- "हम ऐसी बरसात मे भीगते हुए केवल आपका वह किस्सा सुनने आये है, जो कल कहते-कहते रह गया था । अत· आप अन्य कोई औपचारिकता किए बिना हमे तो सर्वप्रथम वही किस्सा सुनाइए ।"

उनकी उत्सुकता देख मैने कहा - "हाँ, हाँ, सुनाते है, पहले जरा गरम तो हो लो, भीगते हुए जो आ रहे हो । और कुछ नही तो

कम से कम एक-एक प्याला गरम-गरम चाय ही पी लो, फिर शान्ति से बैठकर वह प्रसग भी सुनना।

सदासुखी बोला - "भाईजी । हमे अभी किसी भी वस्तु की आवश्यकता नही है, आप तो ---"

"तुम्हे आवश्यकता नही है, यह ठीक है; पर हमारा भी कुछ कर्त्तव्य है या नही? अरे भाई ! घर पर आये अतिथियो का कुछ न कुछ आतिथ्य तो होना ही चाहिए न ?" - मैने कहा ।

सदासुखी बोला - "हम अभी चाय-पानी कुछ नही पियेगे, आप अन्य कुछ विकल्प न करे । वैसे भी आप तो स्वय प्रवासी है, परदेशी है । जब हम आपके घर आयेगे, तब हम जी भर कर आपका आतिथ्य स्वीकार करेगे। अभी तो आप हमारे मेहमान है, अतः यदि आप हमारा आमत्रण स्वीकार कर कल हमारे घर पधारे तो बड़ी कृपा होगी । निश्चय ही आपके सान्निध्य से हमे बहुत लाभ मिलेगा । हमे आपसे बहुत बाते करनी है, बहुत-सी शकाओ का समाधान करना है ।

मैने कहा - "अरे भाई ! यह तो अपनी भारतीय सस्कृति है, इसका निर्वाह तो होना ही चाहिए न ?

और तुम घर की बात कहते हो सो भाई ! जहाँ ठहरे हैं, वही घर । जलपान के लिए क्या घर ? क्या परदेश ? क्या परदेश मे मै भोजन नही करता या जलपान नही करता ?

भले फूल न हो तो पँखुडी ही सही; पर घर आये अतिथि का सत्कार तो होना ही चाहिए ।"

आतिथ्य सत्कार की औपचारिकता के बाद मैने अपनी बात प्रारंभ करते हुए कहा - "बात बीस वर्ष पुरानी है, जब मेरी उम्र कोई सैतीस-अड़तीस वर्ष की रही होगी । उस समय एक बार मुझे ऐसा बुखार आया, जिसके कारण मेरे अग-अग मे असह्य वेदना हो रही थी, इसलिए मैने अपनी पत्नी को बुलाकर कहा - "तू मुझे कोई ऐसे आध्यात्मिक भजन सुना, कोई ऐसा शान्तिप्रदायक स्तोत्र और वैराग्यप्रेरक काव्यपाठ सुना, जिससे मेरा उपयोग बदले और मुझे पीडा

चितन न हो । वह बेचारी सब काम छोड़कर मेरे पास आ बैठी और जिनवाणी मे से अच्छे-अच्छे स्तोत्र और भजन सुनाने लगी ।

सुनाते-सुनाते उसकी दृष्टि समाधिमरण पाठ पर भी पडी । सूरचदकृत समाधिमरण पाठ वैराग्य-प्रेरक तो है ही, कर्णप्रिय भी है, सो वह सहज भाव से वही समाधिमरण पाठ पढ़ने लगी । मै भी उस पाठ के वैराग्य-प्रेरक प्रसगो से प्रभावित होकर भावुकतावश मनोभावो को एकाग्र कर उसी मे तन्मय हो अपनी शारीरिक पीड़ा को भूलने का प्रयत्न करने लगा । इस प्रकार उस दिन वे आध्यात्मिक भजन और स्तोत्रादि के पाठ मुझे 'रामबाण अचूक औषधि' साबित हुए । सचमुच मेरा उपयोग बदल जाने से, दर्द की अनुभूति कम होने से मेरी कराहे कम हो गई। मेरी कराहे कम होती देख मेरी पत्नी को और अधिक उत्साह आया और वह मधुर कठ से जोर-जोर से गा-गाकर सस्वर पाठ करने लगी-

भव-भव में सुर पदवी पाई, ताके सुख अति भोगे ।
भव-भव मे गति नरकतनी धर, दुःख पाये विधि योगे ।।
भव-भव में तिर्यंच योनि धर, पायो दुःख अति भारी ।
भव-भव मे साधर्मीजन को, संग मिल्यो हितकारी ।।
भव-भव में जिन पूजन कीनी, दान सुपात्रहि दीनो ।
भव-भव में मैं समवशरण में, देख्यो जिनगुण भीनो ।।
ऐती वस्तु मिली भव-भव में, सम्यग्गुण नहीं पायो ।
ना समाधियुत मरण कियो मैं, तातैं जग भरमायो ।।
काल अनादि भयो जग भ्रमतें, सदा कुमरणहि कीनो ।
एकबार हू सम्यक्‌युत मैं निज आतम नहिं चीनो ।।
जो निज-पर को ज्ञान होय तो मरण समय दुःख काँई ।
देह निवासी मैं निजभासी, योहि स्वरूप सदाई ।।
विषय-कषायन के वश होकर, देह आपनो जान्यो ।
कर मिथ्या सरधान हिये बिच, आतम नाहि पिछान्यो ।।

यों क्लेश हिय धार मरणकर, चारों गति भरमायो ।
सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चरन ये, हिरदै में नहिं लायो ॥
धन्य-धन्य सुकौशल स्वामी, व्याघ्री ने तन खायो ।
तो भी श्रीमुनि नेक डिगे नहिं, आतम सो चित लायो ॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी ।
तो तुमरे जिय कौन दुख है, मृत्युमहोत्सव भारी ॥

पड़ौसियो ने भी वह आवाज सुनी और उन्हे आश्चर्य हुआ । अरे! यह कैसा स्वर सुनाई दे रहा है ? किसका मृत्युमहोत्सव प्रारंभ हो गया है? अरे !। यह तो बहिनजी की आवाज है । कल तो भाईजी अच्छे भले-चगे हँस-हँसकर बाते कर रहे थे, रात भर मे यह क्या से क्या हो गया ? एक-एक करके सभी अड़ौसी-पड़ौसी मेरा अन्तिम समय निकट समझकर, सहानुभूति की भावना प्रगट करने आने लगे।

एक ने कहा – 'अरे ! अभी उम्र ही क्या थी, पर मौत उम्र देखती ही कब है ? अभी-अभी तो सुख देखने के दिन आये थे । अब तक तो बिचारो ने दुःख ही दुःख देखा' ।

दूसरा बोला - 'आदमी भले थे, पर होनहार पर किसका वश चला है? जो जितनी आयु लेकर आया, उतना ही तो जियेगा ।'

इस प्रकार नानाप्रकार की बाते होने लगी । जबकि ऐसा कुछ भी नही घटा था। न कोई मरा था, न मरणासन्न ही था, मै मात्र बुखार मे था और अपना उपयोग बदलने, अपने दुःख को भूलने, पीडा-चिन्तन आर्तध्यान से बचने एव समता भाव से समय बिताने के लिए शान्तिपूर्वक समाधिमरण पाठ सुन रहा था ।

पर इसमे उन बेचारे अड़ौसियो-पड़ौसियो का भी क्या दोष ? उन्होने तो समाधि पाठ पढ़ने का अर्थ ही यह मान रखा था, उनकी मानसिकता ही यह बन गई थी कि समाधिमरण केवल जीवन के अन्तिम क्षणो मे सुनाया जाता है ।

वस्तुतः अरहत या राम का नाम सत्य, शिव एव सुन्दर है और इनके नाम लेने से सद्‌गति होती है; परन्तु 'अरहंत नाम सत्य है, राम-नाम सत्य है, सत्य बोलो गत्य है' यह वाक्य आजकल शवयात्रा से जुड़ गया है, शव यात्रा के अर्थ मे रूढ़ हो गया है, मौत का प्रतीक बन गया है; अतः इसे मृत्यु के अवसर के सिवाय अन्यत्र कही भी बोलना अशुभ या अपशकुन का सूचक माना जाने लगा है।

इस कारण जिस तरह शादी के अवसर पर 'अरहत नाम सत्य है' एव 'राम नाम सत्य है' नही बोला जा सकता, उसी तरह आज समाधि पाढ भी मृत्युकाल से जुड गया है, मरणासन्न दशा के साथ रूढ हो गया है इस कारण आज जगत की स्थिति यह है कि समाधिमरण का पाठ भी हर कोई व्यक्ति नही पढ-सुन सकता । बीमारी मे भी वयोवृद्ध मरणासन्न व्यक्तियो को ही समाधिमरण सुनने का सौभाग्य मिल पाता है । वह भी तब, जबकि उनकी पाँचो इन्द्रियाँ पूर्ण शिथिल हो जाती है, डॉक्टर जवाब दे देता है, व्यक्ति बेहोश हो जाता है, उसमे न सुनने की शक्ति बचती है, न सोचने-समझने की क्षमता । ऐसी स्थिति मे सुनाने से लाभ भी क्या होने वाला है ? कान मे कोरा मत्र देने से तो मुक्ति होगी नही । हमारी तो यही शुभकामना है कि किसी युवा या प्रौढ को मरण का प्रसग ही न आये, पर मौत पर किसका वश चला है ? कदाचित् किसी युवा की आयु पूर्ण हो गई और मरना पडा तो उसे तो बिना समाधि सुने ही मरना पडेगा, क्योकि अत तक भी युवाओ का मरना किसी को अभीष्ट नही होता ।

वस्तुत. समाधि मृत्युमहोत्सव नही, जीवन जीने की कला है । इसे इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए । पर ऐसा नही हो पा रहा है ।

समाधिपाठ को मात्र मृत्यु के अवसर पर पढने की वस्तु नही मानना चाहिए और न उसे मृत्यु से ही जोडना चाहिए । यह जीवन भर चितवन करने का विषय है, ताकि साधक का मृत्यु के समय भी ज्ञान-वैराग्य जागृत रहे और उसे मोह की मार मूर्छित न कर सके।"

मैने कहा - "सयोग से जैसे-जैसे मै दर्द भूलता गया, वैसे वैसे ही उस समय मेरी नीद गहराती गई और थोड़ी देर में गहरी नींद मे सो गया। दर्द के कारण रात भर सो नही सका था, अतः नीद तो आनी ही थी सो आ गई और अड़ौस-पडौस मे यह घटना उपहास का विषय बन गई। लोगो को ऐसा लगा मानो कोई मुर्दा जीवित हो उठा हो ।"

मेरे ही ऊपर घटित इस घटना को सुनकर सदासुखी और विवेकी के हृदय मे समाधि का सही स्वरूप जानने की एव जीवन मे अपनाने की जिज्ञासा जागृत हो गई ।

उन्होने सन्यास और समाधि लेने का सकल्प तो कर ही रखा था, क्योकि वे अपने लौकिक जीवन से ऊब चुके थे और पारलौकिक जीवन को सुधारने की भावना रखते थे । अतः उन्हे तो मेरे रूप मे अनायास ही ऐसा निमित्त मिल गया, जो शायद उन्हे चिराग लेकर ढूँढने पर भी नही मिलता। अत· वे किसी भी कीमत पर मेरा सान्निध्य छोडना नही चाहते थे। पर रात अधिक हो जाने से उस दिन अधिक चर्चा न हो सकी । अगले दिन पुन· मिलने की आशा से वे अपने-अपने घर चले गए । •

# ७

वही पहाड़ी प्रदेश, वही हरा-भरा उपवन, वैसा ही सुरम्य वातावरण, पर सदासुखी को अब सब कुछ बदला-बदला-सा लगने लगा था, उसका मन जो बदल गया था ।

किसी ने ठीक ही कहा है - 'मन के जीते जीत है, मन के हारे हार।' सदासुखी का मन अब पहले की तरह विकथाओ मे नही रमता था । उसकी भावना और विचारो मे अब पहले की अपेक्षा जमीन-आसमान का अन्तर आ गया था ।

उसके द्वारा स्वय की भूलो को सहज भाव से स्वीकार करना और निरन्तर अपनी आलोचना-समालोचना करते रहना इसका प्रबल प्रमाण है।

जहाँ पहले उसकी बातचीत अधिकाश राजनीति व दूसरो की टीका-टिप्पणी पर ही केन्द्रित रहा करती थी, वही अब उसकी चर्चा के मुख्य विषय धर्मकथाये और तात्त्विक विषय बन गये थे ।

मुझे उस पहाडी प्रदेश के प्रवास मे पहुँचे कोई अधिक समय नही हुआ था । लगभग दो सप्ताह ही हुए होगे, जिसमे भी प्रथम सप्ताह तो परोक्ष परिचय मे यो ही बीत गया था । सदासुखी के निकट सपर्क मे आये तो अभी मात्र सात दिन ही हुए थे । इस बीच उसके जीवन मे आये चमत्कारिक परिवर्तन को देखकर मै स्वय चकित था ।

**कौन जाने किस जीव की कब काललब्धि आ जावे, किसकी परिणति में कब/क्या परिवर्तन आ जावे ? किसका कब/कैसा भाग्योदय हो जावे? यही बात मौत के संबंध में भी लागू पड़ती है ।**

दुकानदारो के श्रीमुख से यह कहते कभी भी सुना जा सकता है कि - 'मौत का और ग्राहक का कोई भरोसा नही, कब आ टपके', पर बलिहारी है उन दुकानदारो की, जो मौत का इतजाम न करके

ग्राहको का ही इंतजार करते रहते हैं । जो मुहावरा मौत से सावधान होने के लिए कहा गया हो, उसे ग्राहकों पर घटित करके दुकान न छोड़ने की प्रेरणा देना, किसी चतुर व्यापारी बाप का ही काम हो सकता है, जो अपने बेटों को इसतरह की प्रेरणा देते हैं ।

पर अब सदासुखी ऐसे दुकानदारों और व्यापारियों की श्रेणी से बहुत ऊपर उठ गया था । अब उसके सोचने का तरीका बिल्कुल बदल गया था। वह मौत के अर्थ को अच्छी तरह समझने लगा था । अतः वह दुकानदारी को ही तिलाजलि देकर मौत के मुख मे जाने के पहले मौत को ही ब-मौत मारने के इंतजाम मे लग गया था, अमर होने के सम्यक् पुरुषार्थ में लग गया था।

× × ×

पिछले सप्ताह से नियमित चल रही तत्त्वगोष्ठी में कल किसी कारणवश विवेकी उपस्थित नही हो सका तो सदासुखी को ऐसा लगा मानो विवेकी ने कोई बडी निधि खो दी हो, वह कोई बहुत बड़ी अपूरणीय क्षति कर बैठा हो। उसका मानना है कि विवेकी को किसी भी कीमत पर तत्त्वगोष्ठी जैसा स्वर्ण अवसर नही छोडना चाहिए । कहाँ मिलते हैं ऐसे मगलमय प्रसग ? न जाने किस जन्म का पुण्य फला है, जो घर बैठे ज्ञानगगा मे गोते लगाने का सौभाग्य मिल रहा है ।

अतः दूसरे दिन विवेकी के आते ही उसने उसे आड़े हाथो लिया और ऊँचे स्वर मे कहा – "विवेकी ! तुम कल तत्त्वगोष्ठी मे क्यो नही आये ? इससे महत्त्वपूर्ण काम और क्या हो सकता है ? तुम्हें यह तो ज्ञात ही है कि भाईजी मात्र हमारे-तुम्हारे लिए ही इतने दिनो से यहाँ रुके हुए है ।"

सदासुखी का कठोर रुख देखकर विवेकी सकपका गया । वह अपनी सफाई मे कुछ कहना ही चाहता था कि सदासुखी ने पुनः भारी असंतोष की मुद्रा मे कहा – "अब तुम्हारा घर-गृहस्थी का कोई भी बहाना

मै नहीं सुनना चाहता । जिनके मोह में तुम इतने पागल हुए जा रहे हो, दुःख के दिनों में ये कोई काम नहीं आयेंगे । और अब उन्हें तुम्हारे काम या सलाह की अपेक्षा भी कहाँ है ? तुम केवल अपनी कमजोरी के कारण ही अपना अमूल्य समय खराब कर रहे हो । वे तुम्हें न भी छोड़ते हो तो तुम्हें तो अब उनसे एकत्व-ममत्व कम करना ही होगा ।"

सदासुखी का नाराज होना अनुचित नही था, ठीक ही था; क्योंकि मित्र कहते ही उसे हैं, जो अपने मित्र को उसके हित में नियोजित करे, कल्याण के मार्ग में लगाये ।

सदासुखी ने कुछ नम्र होते हुए पुनः कहा - "देखो भाई ! अब अपना दुनियादारी मे उलझने का समय नही रहा । कल जब भाईजी ने अपने व्याख्यान मे एक बात बहुत सटीक कही तो उस समय मुझे तुम्हारी बहुत याद आई । मैने तुम्हें इधर-उधर बहुत देखा, पर तुम कही दिखाई ही नहीं दिए । तुम्हारी कल की अनुपस्थिति से मेरा उपयोग बहुत खराब होता रहा।"

विवेकी ने खेद प्रकट करते हुए जिज्ञासा प्रगट की - "क्या कहा था भाईजी ने ? कुछ बता सकोगे ?"

"हाँ हाँ, क्यो नहीं ? तू मुझे समझता क्या है ? वैसे भी मै भाईजी की प्रत्येक बात बड़े ध्यान से सुनता हूँ । फिर कल तो तेरे न आने से मेरी जिम्मेदारी और भी बढ़ गई थी । अतः मैने एक-एक बात ध्यान से सुनी और धारणा मे ली ।"

सदासुखी ने मेरे व्याख्यान को अक्षरशः दुहराते हुए कहा - "अरे भाई! स्त्री-पुत्रादि सभी परिजन-पुरजन स्वार्थ के ही साथी होते है । कोई कितनी भी मीठी-मीठी बाते क्यो न करे, कैसे भी आश्वासन क्यों न दे; पर समय पर कोई काम नहीं आता, कोई भी दुःख के दिनों मे सहभागी नहीं बनता। कदाचित् कोई बनना भी चाहे तो वस्तुव्यवस्था को ही किसी मे किसी का हस्तक्षेप स्वीकृत नही है । वस्तुव्यवस्था

मे ऐसा कोई प्रावधान ही नही है कि कोई किसी के सुख-दुःख मे सहभागी बन सके ।"

शास्त्रो का उल्लेख करते हुए भाईजी ने कहा - देखो न । साफ-साफ लिखा है - 'सुतदारा होय न सीरी, सब स्वारथ के हैं भीरी ।'

शास्त्रो की बाते गलत थोडे ही होती है ।

भाईजी ने एक अन्य भजन की भी कुछ पंक्तियाँ सुनाई थी, जिनके कतिपय बोल इस प्रकार हैं :-

**'तन कोई छूता नहीं, चेतन निकल जाने के बाद ।**
**फैक देते फूल को, खुशबू निकल जाने के बाद ॥**
**छोड देता माँ को बछड़ा, पय निकल जाने के बाद ।'**

शायद अगली पक्ति भाईजी भूल रहे थे, जब तक वे सोचने को रुके, तब तक मेरे मुँह से निकल गया - "कह दो, कह दो भाईजी! कह दो कि-

**बेटे माँ-बाप को भी छोड देते, स्वार्थ सध जाने के बाद ॥"**

मेरा इतना कहना था कि सब श्रोताओ की दृष्टि मेरी और मुड़ गई ।

अपनी ओर सबकी दृष्टि देखकर पहले तो मै कुछ झेपा, क्योंकि मैने अनाधिकार चेष्टा जो कर डाली थी । मुझे व्याख्यान के बीच मे बोलने की धृष्टता नही करनी चाहिए थी और मै यह गुस्ताखी कर बैठा था । पर जब मैने सबको मुस्कुराते और सराहना के स्वर मे वाह । वाह ।। करते सुना तो मुझे ऐसा लगा कि - "जैसे मैने कोई बहुत बड़े विवेक की बात कह दी है, अन्यथा वे व्याख्यान के बीच मे वाह ! वाह !। क्यो करते ?"

वस्तुतः वह बुजुर्गो के दिलो का दर्द था, जो मेरे मुँह से अनायास फूट पड़ा था । अतः सबका प्रसन्न होना तो स्वाभाविक ही था । भाईजी ने भी मेरी बात का ही समर्थन करते हुए मेरी वही पंक्ति बार-बार दुहराई ।

"बेटे माँ-बाप को भी छोड़ देते......।"

सदासुखी के मुँह से ये बाते सुनकर विवेकी भी उछल पड़ा था और वह भी वाह्-वाह् करता हुआ बोला - "वाह ! सदासुखी तुमने तो कमाल कर दिया ।"

"क्या खाक कमाल कर दिया । तुम तो ऐसे दाद दे रहे हो जैसे मै कोई बहुत बड़ा कवि या शायर बन गया होऊँ । अरे भाई । मेरे मुँह से तो टूटे-फूटे शब्दो मे केवल मेरे और जनता के दिल का दर्द निकला था।"

विवेकी ने कहा - "कवि भी तो ऐसे ही बनते हैं - आपको पता नही, बाल्मीकि महाकवि कैसे बने थे ?"

उनको लक्ष्य करके ही कवि सुमित्रानदन पत ने यह कहा है :-

'वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान ।
उमड कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान ॥'

सदासुखी ने आगे कहा - "भाईजी ने अपने व्याख्यान मे एक कहानी के माध्यम से इस स्वार्थी जगत का जो शब्दचित्र प्रस्तुत किया था, वह मोहनीद मे सोए हम-तुम जैसे सब जीवो की आँखे खोलने के लिए पर्याप्त था ।

विवेकी ने अपनी भूल का अहसास करते हुए पुनः कहा - "भाई। मुझसे सचमुच भूल हुई है कि मैने ऐसा स्वर्ण अवसर खो दिया । यदि तुम सुना सकते हो तो वह कहानी भी अवश्य सुनाओ । मै भविष्य मे समय पर प्रतिदिन उपस्थित रहने का पूरा-पूरा प्रयत्न करूँगा ।"

विवेकी के अनुरोध पर सदासुखी ने भाईजी के व्याख्यान मे सुनी कहानी को सुनाते हुए कहा - "एक सेठ था, जिसका नाम था खुशीराम। दुनिया की दृष्टि मे खुशीराम सब ओर से सुखी था, साठ वर्ष का होते हुए भी पूर्ण स्वस्थ था, अटूट सपत्ति थी, कल-कारखानो से असीमित आय, पाँच-पाँच लडके, उनकी एक से बढ़कर एक सुन्दर व सुशील बहुएँ, किलकारियो से घर का कोना-कोना गुजाते पोते-पोतियाँ, कुलवती

नारी, आज्ञाकारी पुत्र, अनुकूल अड़ौसी-पड़ौसी, सेवाभावी नौकर-चाकर सभी सदैव उनकी सेवा मे समर्पित, विलायती गाड़ियाँ, बड़े-बड़े बगले। क्या नही था उसके पास ? एक तत्त्वज्ञान के सिवाय सब कुछ तो था ।

भाग्योदय से ज्ञानियो के जीवन में यदि ऐसा बनाव बन भी जावे तो वे तो इस ठाठ-बाट की क्षण-भगुरता को भली-भांति जानते हैं, अतः वे इस ठाठ-बाट से तन्मय नहीं होते, प्रभावित भी नहीं होते। पर यदि यही सब अनुकूल संयोग अज्ञानियो को मिल जायें तो उन्हें अपच हुए बिना नही रहता, अभिमान हुए बिना नहीं रहता ।

सेठ खुशीराम को भी यह सब पचा नहीं था, इस कारण अब वह आसमान मे उड़ानें भरने लगा था । अब उसका पाँव जमीन पर टिकता ही नही था, वह अपने आगे किसी को कुछ समझता ही नही था । किसी से सीधे मुँह बात करना तो मानो वह भूल-सा ही गया था और नीचे की ओर देखना भी अब उसकी आदत मे नहीं रहा था । पर सबके दिन सदा एक से नही रहते । वह भी उन्ही मे से एक था, जो जल्दी ही जमीन पर आ गिरा ।

एक बार वह ऐसा बीमार पडा कि लाखों प्रयत्नो के बावजूद भी स्वस्थ नही हुआ । जब वह सब ओर से निराश हो गया तो उसे भगवान याद आये । दैवयोग से एक दिन अनायास उसके घर एक महात्माजी आ पहुँचे।

महात्माजी ने सेठ को साठोत्तर एव अत्यधिक अस्वस्थ देखकर शेष जीवन को धर्म आराधनापूर्वक बिताने की सलाह दी ।

उन्होने कहा - "देखो सेठ ! मै अपने निमित्तज्ञान से तुम्हारे भूत व भविष्य को अच्छी तरह जानता हूँ । तुम्हारे पुण्योदय से तुम्हारा भूतकाल तो बहुत ही अच्छा बीता है, पर तुम्हारी वर्तमान परिणति देखते हुए मुझे तुम्हारा भविष्य सुखद दिखाई नहीं देता । अब तुम्हारा पुण्य क्षीण हो चला है, इस कारण बुढ़ापे मे तो सुख शांति दीखती

ही नही, अगला जन्म भी अधकारमय दिखाई देता है । अतः मेरी सलाह मानो तो तुम अपना शेष जीवन ज्ञान-वैराग्य सहित समतापूर्वक बिताओ । ताकि तुम्हे वर्तमान मे भी आकुलताजनित दु ख की अनुभूति न हो और अगला जन्म भी सुधर सके।"

सेठ ने कहा - "महात्माजी ! हम ज्ञान-वैराग्य क्या जाने ? हमसे तो आप यदि दान-पुण्य करने को कहो तो हम लाख दो लाख रुपया खर्च कर सकते है, पूजापाठ करा सकते है । पर, अब बुढापे मे पढने-लिखने और स्वाध्याय करने की शक्ति ही हममे कहाँ ? अब सयम-नियम से रहना भी हमारे वश की बात नही है ।"

स्त्री-पुत्र कुटुम्ब-परिवार के व्यामोह मे पडे सेठ की पात्रता देख महात्माजी ने सर्वप्रथम सेठ को ससार, शरीर और भोगो से अरुचि उत्पन्न कराने के लिए इस स्वार्थी जगत का स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया।

महात्माजी ने कहा - "देखो सेठ । तुम जिन स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब-परिवार के मोह-जाल मे उलझकर अपना अमूल्य मानव जीवन बर्बाद कर रहे हो, अपने हिताहित को बिल्कुल भूल बैठे हो, अपने भविष्य को अधकारमय बना रहे हो, वे कोई भी तुम्हे दु:ख के दिनो मे काम नही आयेगे। यह जगत बडा स्वार्थी है । जिन्हें तुम अपना कहते हो, ये सब स्वार्थ के ही सगे है । अत तुम कुटुम्ब-परिवार के मोह मे पडकर अब अधिक पाप मे न पडो । पाप का फल तो तुम्हे अकेले ही भोगना पड़ेगा ।"

"महाराज । मै आप से मुँहजोरी तो नही कर सकता, आप जो कहेगे, मै आपकी आज्ञा पालन करने की कोशिश करूँगा, पर आपने जो मेरे कुटुम्ब-परिवार पर सदेह प्रगट किया, उन्हे स्वार्थी बताया - इस बात पर मुझे विश्वास नही, क्योकि मुझे अपने परिवार पर पूरा भरोसा है । वे मेरे लिए तो अपने प्राण तक समर्पित करने को हर समय तैयार रहते है । भला ऐसे परिवार के बीच मे मेरा बुढापा दुःखद कैसे हो सकता है ?

आपको पता नही है, मेरे स्त्री-पुत्र आदि मुझे एक क्षण भी दुःखी नही देख सकते । वैसे अगला जन्म तो देखा किसने है ? फिर भी मैने मौके-मौके पर भारी दान-पुण्य करके पूजा-पाठ कराके, तीर्थो के यात्रा सघ निकालकर, मदिर वगैरह बनवाकर अपने अगले जन्म का भी कुछ-कुछ इंतजाम, कर ही लिया है ।"

सेठ की बाते सुनकर महात्माजी मुस्कुराये । उन्होने कहा - "सेठ! तुम बहुत भोले हो । जब तुम्हें पुनर्जन्म और पुण्य-पाप मे विश्वास ही नही है तो धरम-करम करके यह रिजर्वेशन कहाँ का करा लिया है?

सेठ ! अभी तक तुमने पूर्व पुण्योदय से सब ओर से कुटुम्ब-परिवार की अनुकूलता ही देखी है । प्रतिकूलता का प्रसग तो अब प्राप्त हुआ है। तुम अब देखना कि कौन/कितना समर्पण करता है ?"

सेठ ने आत्मविश्वास प्रगट करते हुए कहा - "मै आपकी इस बात से सहमत नही हूँ, ऐसा कहकर आपने मेरे परिजनो का अपमान किया है ।"

महात्माजी ने कहा - "देखो सेठ ! यह तुम नही, तुम्हारा मोह बोल रहा है, अहकार बोल रहा है । भले ही अभी तुम्हें मेरी बात पर विश्वास नही हो रहा है, पर कभी न कभी तुम्हे मेरी बात माननी ही होगी ।

यदि तुम्हे मेरे निमित्तज्ञान पर जरा भी विश्वास हो तो उसके अनुसार तुम्हें इतना तो मानना ही पड़ेगा कि अब तुम्हारी जिदगी केवल चद दिनो की रह गई है । अतः तुम्हारे जो अति आवश्यक काम है, उन्हे शीघ्र पूरा कर लो, अन्यथा यहाँ का सब कुछ तो अधूरा छोड़कर ही जाना होगा, अगले जन्मो मे भी तुम्हारा अतृप्त आत्मा सुख-शाति प्राप्त नही कर सकेगा। अत· तुम्हें यह सब विकल्प तोडकर अपने कल्याण के मार्ग मे लग जाना चाहिए ।"

महात्माजी से अपनी मौत की बात सुनकर सेठ की आँखो के आगे अँधेरा छा गया, वह हक्का-बक्का रह गया ।

परिस्थिति का लाभ उठाते हुए महात्माजी ने सेठ के कान में कुछ कहा— सेठ सुनते ही मूर्छित हो मरण तुल्य हो गया ।

अनायास सेठ की यह स्थिति देखकर घर के सभी लोग घबड़ा गये। किसी की समझ मे कुछ नही आ रहा था कि देखते ही देखते यह क्या हो गया, अभी तो सेठजी महात्माजी से अच्छी भली बाते कर रहे थे और अभी-अभी चल बसे ।

फिर क्या था, तत्काल सभी उनसे प्राप्त होने वाले अपने-अपने सुखो को, स्वार्थो को याद कर-करके रोने लगे ।

रात्रि के दस बज रहे थे, इस कारण रातभर का समय तो उनके शव के पास बैठकर सबको गुजारना ही था । आधा-पौन घटे रोने की औपचारिकता पूरी करके सब घर-बाहर की बाते करने लगे । भविष्य की रूपरेखाये बनने लगी । इसी बीच सपत्ति के स्वामित्व और बँटवारे की बाते भी प्रारभ हो गई। बेटे-बेटियो और भाई-बधुओ मे एक अलग प्रकार की सुगबुगाहट शुरु हो गई । बेटे-बेटियो और भाई-बधु बडी ही बेशर्मी से सपत्ति पर अपना-अपना एकाधिकार जताने के चक्कर मे थे । सभी सेठ पर पक्षपात के आरोप लगा-लगाकर उनको बुरा-भला कह रहे थे ।

उन बेचारो को क्या पता था कि सेठजी मरे नही थे, बल्कि महात्माजी की योजना के अनुसार अपने परिवार की परीक्षा करने के लिए, उनकी भावनाओ को परखने के लिए महात्माजी के द्वारा ही कान मे फूँके गये मंत्र के मुताबिक मरने का नाटक कर रहे थे । ऐसी स्थिति मे वहाँ जो भी बाते हुई थी, उन्हे सुनकर सेठजी को महात्माजी की बातो पर कुछ-कुछ विश्वास हो चला था ।

यद्यपि सेठ को अपने परिजनो की बातो से उनके ऊपर क्रोध आ रहा था, पर वह सेठ उन लोगो की भावनाओ को और गहराई से जानना चाहता था, अतः चुपचाप वैसे ही आँखे बद किए मृतवत् रात भर पड़ा रहा और उनकी बाते सुनता रहा । इससे उसका मन उनके प्रति ग्लानि से भर गया । जितना उसे उनके प्रति राग था, उससे कही अधिक द्वेष हो गया ।

प्रातः होते ही महात्माजी फिर सेठ के घर सहानुभूति दर्शाने के बहाने आ धमके । और सेठ के घर के सभी सदस्यों को बुलाया तथा एक कटोरे मे जल को मंत्रित करके एक-एक कर सबसे कहा कि जो इस जल को पी लेगा, उसके जीवन के बीस-बीस वर्ष सेठजी को मिल जायेगे । फिर तुम्हारे अंतिम समय तक सेठजी तुम्हारे साथ रह सकेंगे। यदि एक ही व्यक्ति अपने जीवन के बीस वर्ष नही देना चाहता तो पति-पत्नी दोनो मिलकर भी आधा-आधा पानी पीले तो दोनो अपने जीवन के दस-दस वर्ष भी दे सकते है ।

सभी एक दूसरे का मुँह ताकने लगे, बहुत प्रतीक्षा करने के बाद जब कोई भी आगे नही आया तो मृतवत् पडे सेठ को और भी अधिक क्रोध आया, वह आग-बबूला हो गया, क्रोध मे उसके ओठ थर-थर कापने लगे। वह चिल्लाया - "सब हट जाओ मेरे सामने से । अब मेरी समझ मे अच्छी तरह आ गया कि तुम लोग कितने स्वार्थी हो? आज तुमने मेरा भ्रम भग कर दिया है, मेरी आँखे खोल दी हैं । अब समझ मे आया कि महात्माजी का कहना शत-प्रतिशत सही था, जिस पर अब तक मैने विश्वास नही किया था ।"

महात्माजी ने सेठ को शात करते हुए कहा - "भाई ! इसमे इन लोगो का कोई दोष नही है । तुम्ही भ्रम मे थे । ये लोग अपनी आयु तुम्हें देना भी चाहे तो भी नही दे सकते ।

लोक की स्व-सचालित वस्तु व्यवस्था मे ऐसा कुछ भी सभव नही है; जो ऐसा मानते हैं या कहते हैं, वे स्वय को एव दूसरो को धोखा देते हैं । जो निश्चित है, उसे कौन पलट सकता है ?"

महात्माजी ने सेठ से आगे कहा - "कोई किसी को सुखी-दुःखी नही कर सकता, जीवन-मरण नहीं दे सकता; क्योंकि कोई किसी को अपने पुण्य-पाप नहीं दे सकता, आयु नहीं दे सकता ।"

देखो न ! समयसार के बध अधिकार मे आचार्य कुंदकुंद ने कितना स्पष्ट लिखा है -

मैं मारता हूँ अन्य को, या मुझे मारें अन्यजन ।
यह मान्यता अज्ञान है, जिनवर कहे हे भव्यजन ॥
निज आयुक्षय से मरण हो, यह बात जिनवर ने कही ।
तुम मार कैसे सकोगे जब, आयु हर सकते नहीं ? ॥
निज आयुक्षय से मरण हो, यह बात जिनवर ने कही ।
वे मरण कैसे करें तब, जब आयु हर सकते नहीं ? ॥
मैं हूँ बचाता अन्य को, मुझको बचावे अन्यजन ।
यह मान्यता अज्ञान है, जिनवर कहे हे भव्यजन ॥
सब आयु से जीवित रहे, यह बात जिनवर ने कही ।
जीवित रखोगे किस तरह, जब आयु दे सकते नहीं ? ॥
सब आयु से जीवित रहे, यह बात जिनवर ने कही ।
कैसे बचावें वे तुझे जब, आयु दे सकते नहीं ? ॥
मै सुखी करता दुःखी करता हूँ, जगत में अन्य को ।
यह मान्यता अज्ञान है, क्यों ज्ञानियों को मान्य हो ? ॥

इसप्रकार सभी जीव अपने किए पुण्य-पाप का फल ही भोगते है। अन्य कोई किसी को सुखी-दुःखी नही कर सकता । यदि कोई अन्य किसी अन्य को सुखी-दुःखी कर सके तो स्वय किए पुण्य-पाप का क्या होगा ? अत किसी अन्य के प्रति राग-द्वेष करना व्यर्थ है ।

ज्ञानी ऐसी श्रद्धा के बल से ही कषाये कृश करते है, मोह-राग-द्वेष का वमन करके समताभाव धारण करते है । तथा ससार, शरीर व भोगो की असारता का बारम्बार विचार करके सासारिक सुखो से सन्यास ले लेते हैं, विरागी होकर मुनिधर्म साधन द्वारा स्वरूप की प्राप्ति करते हैं । यही जीवन जीने की कला है जिससे हम अब तक अनभिज्ञ रहे है। यदि सच्चा सुख प्राप्त करना हो तो हमे भी इन सबसे सन्यास लेकर पचपरमेष्टी और शुद्धात्मा की शरण मे आना होगा । एतदर्थ पडित जयचदजी छाबड़ा की निम्नाकित पंक्तियाँ बारबार स्मरणीय हैं :-

"शुद्धातम अरु पंचगुरु, जग में शरणा दोय ।
मोह उदय जिय के वृथा, आन कल्पना होय ॥"

महात्माजी के इस संदेश को सुनकर सेठ के नेत्र खुल गये और उन्होने जगत से संन्यास लेने का दृढ़ सकल्प कर महात्माजी से सन्यास व समाधि के सबध मे विस्तार से समझने का निवेदन किया ।

महात्माजी ने कहा - "संसार, शरीर व भोगों को असार, क्षणिक एवं नाशवान तथा दुःखस्वरूप व दुःख का कारण मानकर उनसे विरक्त होना ही सन्यास है । तथा समता भाव को समाधि कहते हैं।

शास्त्रीय शब्दो मे कहे तो, कषायरहित शांत परिणामों का नाम ही समाधि है ।

तत्त्वों का मनन, मिथ्यात्व का वमन, कषायों का शमन, इंद्रियों का दमन, आत्मा में रमण - यही सब तो समाधि है, जो अब तुम्हें करनी है ।

समाधि के लिए सर्वप्रथम स्वरूप की समझ अत्यावश्यक है तथा यह स्वरूप की समझ पचपरमेष्टी की पहचानपूर्वक होती है और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ श्रद्धा उसमे निमित्त होती है । एतदर्थ सर्वप्रथम तुम्हे देव-शास्त्र-गुरु की शरण मे आना होगा, पचपरमेष्टी का स्वरूप समझना होगा ।

पुरुषो की बहत्तर कलाओ मे दो कलाये ही प्रमुख हैं - एक जीविका दूसरी जीवोद्धार । पहली कला मे तो तुम सफल रहे ही हो । दूसरी कला को भी तुम हासिल करो । सन्यासपूर्वक समाधि की साधना करके अपने शेष जीवन को भी सार्थक कर लो ।

इस तरह महात्माजी की प्रेरणा एव प्रयासो से तथा स्वय की भली होनहार से सेठ को सन्मार्ग मिल गया ।

इस मार्मिक कहानी को जब सदासुखी के मुख से विवेकी ने सुना तो वह भी गद्गद् हो गया और उसका विवेक भी जागृत हो गया।

विवेकी को ऐसा लगा - "मानो यह उसी के जीवन की कहानी है । अतः उसने भी इस दिशा मे सक्रिय होने का सकल्प कर लिया।"

सदासुखी के मुख से अपने व्याख्यान को अक्षरशः दुहराते और दोनो के जीवन को इस तरह प्रभावित और परिवर्तित होता देख मुझे अपना सारा श्रम सार्थक लगने लगा ।

मुझे इस बात से पूर्ण सतोष व भारी प्रसन्नता हुई कि भले ही जीवन के उत्तरार्द्ध मे ही सही, पर सदासुखी व विवेकी दोनो ही सन्मार्ग पर आ गये ।

यही तो मानव जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है, जो उन्हें मेरे निमित्त से उस पहाड़ी प्रदेश मे भी मिल रही थी । इसी से तो यह कहा जाता है कि — जब भली होनहार होती है तो विपत्ति बन जाती है और निमित्त भी आकाश से उतर आते है ।

देखो न । मै भी तो उस वन प्रदेश मे आकाश से उतर कर ही तो गया था । इसमे मेरा क्या है, उनकी योग्यता से ही यह सब सहज बनाव बन गया था । •

# ८

"जगत मे सदासुखी और विवेकी जैसे जिज्ञासु जीव भी विरले ही होते हैं, जो जगत के स्वरूप को जानकर — ससार, शरीर और भोगो की असारता को पहचान कर अपने जीवन के उत्तरार्द्ध मे आत्मा-परमात्मा के स्वरूप को, धर्म के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा प्रगट करते हैं। अपना शेष जीवन समता से, निष्कषायभाव से समाधिपूर्वक जीना चाहते हैं ।

अधिकाश व्यक्ति तो ऐसे होते हैं जो प्रतिकूल परिस्थितियो से घबड़ाकर, जीवन से निराश होकर जल्दी ही भगवान को प्यारे हो जाना चाहते है, दु:खद वातावरण से छुटकारा पाने के लिए समय से पहले ही मर जाना चाहते है । सौभाग्य से यदि अनुकूलताये मिल गईं तो आयु से भी अधिक जीने की निष्फल कामना करते-करते अति सक्लेश भाव से मर कर कुगति के पात्र बनते है ।

ऐसे लोग दोनो ही परिस्थितियो मे जीवन भर जगत के जीवों के साथ और अपने-आपके साथ सघर्ष करते-करते ही मर जाते हैं । वे राग-द्वेष से ऊपर नही उठ पाते, कषाय-चक्र से बाहर नहीं निकल पाते । मुझे सदासुखी व विवेकी की अतृप्त जिज्ञासा को तो शात करना ही चाहिए, इनकी शकाओ का समाधान तो होना ही चाहिए, अन्यथा ये भी कही भी भटक सकते हैं । इनके लिए मुझे भले ही कुछ भी त्याग क्यो न करना पड़े, मै अवश्य करूँगा । मुझे अभी घर जल्दी जाकर करना भी क्या है ? और यदि कुछ करना भी हो तो इससे बढ़िया काम और क्या हो सकता है ?"

इस प्रकार सोचते-विचारते थोड़ी देर तो मैं असमंजस मे रहा, अन्ततः मैंने एक सप्ताह और वहाँ रुकने का कार्यक्रम बना ही लिया।

यद्यपि मुझे घर जाने की कोई जल्दी नही थी, पर निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार मेरे प्रवास का समय समाप्त हो गया था, अतः मुझे समय पर घर वापिस पहुँचना आवश्यक लग रहा था, ताकि मेरे कारण घर-परिवार वालो को आकुलता न हो । पर उन लोगो की अतृप्त जिज्ञासा को यो ही छोड़कर चले जाना मेरे मन को स्वीकृत नही हुआ ।

पिछले दो सप्ताह तक तो मै एकात मे चिन्तन-मनन की दृष्टि से सब परिवारजनो से स्पष्ट कहकर अज्ञातवास मे रहा था । पर अब मुझे अपने रुकने के लिए आगामी कार्यक्रम की सूचना देना आवश्यक हो गया था, अन्यथा सभी लोग चिन्तित हो उठते ।

मेरा समाचार घर पहुँचा ही था कि दूसरे ही दिन मेरी धर्मपत्नी वहाँ आ पहुची । मानो वह मेरे पत्र की प्रतीक्षा ही कर रही थी ।

पत्नी को अचानक वहाँ पहुँचा देख मै आश्चर्य मे डूब गया।

मुझे विचार आया कि जिसे मै अज्ञातवास मे आते समय एक सहधर्मी पति के कर्त्तव्य के नाते धर्म लाभ हेतु साथ मे चलने को कह-कह कर थक गया था, वही आज अचानक अपने पोते-पोतियो और बहू-बेटियो से मोह तोडकर, घर-द्वार को उनके भरोसे छोडकर एव विषय-कषायो से मुँह मोडकर यहाँ सत्सग करने कैसे आ गई ?

चलो, कोई बात नही, 'जब जाग जाये तभी है सवेरा' – यह सोचकर मै मन ही मन खुश था ।

मै सोच रहा था – "जो पत्नियाँ केवल विषय-कषाय एव राग-रंग मे ही सहभागी बनती है, धर्मसाधन मे साथ नही रहतीं, उन्हें तो धर्मपत्नी कहलाने का अधिकार ही नही है । सभवतः मेरी पत्नी अब सच्चे अर्थों मे धर्मपत्नी बन जायेगी ।"

हुआ भी यही, वह वहाँ मेरे साथ एक सप्ताह घर के सब सकल्प-विकल्पों को छोडकर सदासुखी, विवेकी तथा वहाँ के सामान्य श्रावक-श्राविकाओ के साथ हुई सामूहिक तत्त्वगोष्ठियो मे सक्रिय भाग

लेती रही । इससे उसके जीवन मे तो आमूल-चूल परिवर्तन हुआ ही, उससे अन्य अनेक स्थानीय महिलाओ ने भी प्रेरणा ली।

x x x

बातचीत के बीच विवेकी ने पूछा - "भाईजी ! उस दिन आपने कहा था - 'निष्कषाय भाव या शात परिणामो का दूसरा नाम ही समाधि है और वह निष्कषाय भाव या कषायो का शमन वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझ से ही होता है ।' अतः मै जानना चाहता हूँ कि वस्तुस्वरूप की समझ से आपका क्या तात्पर्य है ?"

विवेकी की वस्तुस्वरूप को समझने की जिज्ञासा देखकर मुझे प्रसन्नता हुई और मैने जिनागम के अनुसार वस्तुस्वरूप की व्याख्या करते हुए बताया -

"लोक के सभी द्रव्यो को, पदार्थो को वस्तुत्वगुण के कारण वस्तु भी कहते है । इन सभी वस्तुओ का स्वरूप पूर्ण स्वतत्र व स्वाधीन है । आत्मा भी एक अखण्ड, अविनाशी, अनादि-अनत, ज्ञानानन्दस्वभावी, पूर्ण स्वतत्र वस्तु है । ज्ञाता-दृष्टा रहना उसका स्वभाव है । क्रोधादि करना आत्मा का स्वभाव नही, विभाव है । स्वभाव से विपरीत भाव को विभाव कहते है । काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ आदि के भाव आत्मा के विपरीत भाव है । अतः ये सब विभाव हैं ।

जब तक यह जीव वस्तुस्वातत्र्य के इस सिद्धात को नही समझेगा और क्रोधादि विभाव भावो को ही स्वभाव मानता रहेगा, अपने को पर का कर्त्ता-धर्त्ता मानता रहेगा तब तक समता एव समाधि का प्राप्त होना सभव नहीं है ।"

एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया - "वस्तुस्वातत्र्य की समझ से समता कैसे आती है ?"

मैने कहा - "तुमने बहुत अच्छा प्रश्न किया है - अब जरा ध्यान से सुनो ! इन दोनो का परस्पर चोली-दामन जैसा अत्यन्त निकट संबध है । प्रत्येक वस्तु या लोक के सभी पदार्थ पूर्ण स्वतत्र और स्वावलबी

हैं । कोई भी द्रव्य किसी परद्रव्य के अधीन नही है, एक द्रव्य का कर्ता-भोक्ता भी नही है । ऐसे श्रद्धान व समझ से ही समता आती है, कषाये कम होती है, राग-द्वेष का अभाव होता है ।

बस, इसी प्रकार के श्रद्धान-ज्ञान व आचरण से आत्मा निष्कषाय होकर समाधिमय जीवन जी सकता है ।"

दूसरा नया जिज्ञासु बोला, "इस समाधि की चर्चा का अभी क्या काम? यह तो मरते समय धारण करने की वस्तु है न ?"

मैने कहा - "ऐसी बात नही है, मरते समय तो समाधिरूप वृक्ष के फल खाए जाते हैं, बीज तो अभी ही बोना होगा; तभी तो उस समय फल मिलेगा ।

सुनो ! ध्यान से अनुभवियो की बाते सुनो ! क्या कहते है ज्ञानीजन ?

'दर्शन-ज्ञान-चरित्र को, प्रीतिसहित अपनाय ।
च्युत न होय स्वभाव से, वह समाधि को पाय ॥'

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की समृद्धि-वृद्धि ही समाधि है ।

महापुराण के इक्कीस वे अध्याय मे कहा है कि 'उत्तम परिणामो मे चित्त को स्थिर करना ही यथार्थ समाधि है । अथवा पचपरमेष्ठियो के स्मरण को समाधि कहते है ।'

भगवती आराधना मे समाधि के सबध मे ऐसा लिखा है कि सम शब्द का अर्थ है एक रूप करना, मन को एकाग्र करना । शुभोपयोग मे मन को एकाग्र करना समाधि शब्द का अर्थ है ।

नियमानुसार गाथा एक सौ बाईस मे समाधि की चर्चा करते हुए कहा है कि - 'वचनोच्चारण की क्रिया का परित्याग कर वीतरागभाव से जो आत्मा को ध्याता है, उसे समाधि कहते है ।'

परमात्मप्रकाश की एक सौ नब्बे वी गाथा मे परम समाधि की व्याख्या करते हुए ऐसा कहा है कि - 'समस्त विकल्पो के नाश होने को परमसमाधि कहते हैं।'

इसी कारण साधक समस्त शुभाशुभ विकल्पों को छोड़ने की भावना भाते हैं, उन्हें हेय मानते हैं ।"

तीसरे जिज्ञासु ने पूछा - "क्या ध्यान, योग और समाधि में कुछ अन्तर है ?"

मैंने कहा - "ध्यान से सुनो, नए-नए प्रश्नो के चक्कर में पहला प्रश्न अधूरा रह जायेगा । ध्यान के प्रकरण मे ऐसा कहा जाता है कि-- "ध्येय और ध्याता का एकीकरण रूप समरसीभाव ही समाधि है ।"

योग और समाधि मे अन्तर स्पष्ट करते हुए स्याद्वादमजरी की टीका मे ऐसा कहा है कि - 'बाह्यजल्प और अन्तर्जल्प के त्यागस्वरूप तो योग है तथा स्वरूप मे चित्त का निरोध करना समाधि है ।'

तुम्हारे प्रश्न का उत्तर इसी मे आ जायेगा । इसप्रकार जहाँ भी आगम मे समाधि के स्वरूप की चर्चा आई है, उसे जीवन की साधना, आत्मा की आराधना और ध्यान आदि निर्विकल्प भावो से ही जोड़ा है, न कि मरण से । अत· समाधि प्राप्त करने के लिए मरण की प्रतीक्षा करने के बजाय जीने की कला सीखना जरूरी है, जो सर्वज्ञ स्वभावी आत्मा की यथार्थ समझ से ही सभव है ।

तत्वज्ञान के अभ्यास के बल से जिनके जीवन मे ऐसी समाधि होगी, उनका मरण भी नियम से समाधिपूर्वक ही होगा ।

एतदर्थ हमे अपने जीवन में जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धातो का अध्ययन और सतत अभ्यास करना अत्यन्त आवश्यक है, उनकी श्रद्धा से हमारे जीवन मे यह समाधि की दशा प्राप्त हो सकेगी एव राग-द्वेष से मुक्त होकर निष्कषाय अवस्था को प्राप्त कर सकेंगे ।

जगत मे जितने भी जीव जन्म लेते हैं, वे सभी मरते हैं । इस तरह प्रतिपल असख्य अनत जीवो की मृत्यु होती रहती है; पर सभी जीवो की मृत्यु को महोत्सव की सज्ञा नही दी जा सकती है । जिन्होने अपना जीवन समाधिपूर्वक जिया हो, मरण भी उन्हीं जीवो का समाधिपूर्वक

होता है । वस्तुतः आधि[1]-व्याधि[2] व उपाधि[3] से रहित आत्मा के निर्मल परिणामो का नाम ही तो समाधि[4] है ।

समता भाव या निष्कषाय भाव का नाम ही तो समाधि है ? इससे मरण का क्या सबध ?"

आगम के आधार पर की गई समाधि की इस चर्चा को सुनकर जहाँ विवेकी एव सदासुखी ने सतोष प्रगट किया, वही साथ मे उनके मन मे और भी अनेक प्रश्न खड़े हो गये । पर समय काफी हो गया था और चर्चा भी गभीर थी, अतः 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' की नीति के अनुसार आवश्यकता से अधिक चर्चा करना मैने ठीक नही समझा ।

"बात कितनी भी बढिया क्यों न हो, पर एक सीमा तक ही उसका लाभ मिलता है । सीमा का उल्लघन होते ही अमृत तुल्य षट्रस व्यंजन भी विषरूप परिणत होने लगते है" – यह सोचकर बातचीत उस समय बद कर दी गई । •

---

1 मानसिक चिन्ता
2 शारीरिक रोग
3 पर के कर्तव्य का भार
4 आधि-व्याधि-उपाधि से रहित आत्मा का निर्मल परिणाम ।

# १

विषम परिस्थितियो मे जीने वाले सामान्य वृद्ध जनो की भाँति सदासुखी और विवेकी भी अब अपने जीवन से निराश हो चुके थे । अब वे अपने बुढ़ापे के दिनो को गिन-गिन कर काट रहे थे । मानो अब तो उन्हें अपने मरने की ही प्रतीक्षा थी । उनका एकमात्र अन्तिम कार्य 'मरण' ही शेष रह गया था, जिसे वे येन-केन-प्रकारेण — जिस तरह भी सभव हो, सुधार लेना चाहते थे ।

उन्होने सुन रखा था कि जिनका 'मरण' सुधर जाता है, वे ही परभव मे अगले-जन्म मे सुखद सयोगो मे पहुचते हैं, उनको ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है । और जिनका मरण बिगड जाता है, वे नरक-निगोद आदि गतियो मे जाकर अनतकाल तक असीम दुःख भोगते हैं ।

अत वे कहा करते थे कि जीवन तो जैसे जिया, जी लिया । अब उसका रोना रोने से क्या प्रयोजन ? अब तो बार-बार यही विचार आता है कि कम से कम मरण तो न बिगड जावे ।

उन बेचारो को क्या पता था कि - "जिसने अपना जीवन रो-रोकर जिया हो, जिनको जीवन भर सक्लेश ही सक्लेश और अशान्ति रही हो, जिनका जीवन केवल आकुलता मे ही बीता हो, जिसने जीवन मे सुख-शान्ति कभी देखी ही न हो, निराकुलता का अनुभव किया ही न हो; इस कारण जिनके जीवन भर सक्लेश परिणाम रहे हो, आर्तध्यान ही हुआ हो; उनका 'मरण' कभी नही सुधर सकता; क्योंकि जैसी मति वैसी गति ।

आगम के अनुसार जिसका आयुबध जिस प्रकार के सक्लेश या विशुद्ध परिणामो मे हो जाता है, उसका मरण भी उसी प्रकार के सक्लेश या

विशुद्ध परिणामो मे होता है । अतः यहाँ यह कहा जायेगा कि जैसी गति वैसी मति।

जब तक आयुबध नहीं हुआ तब तक 'मति अनुसार गति' बधती है, आयु बंध होने पर गति के अनुसार मति होती है ।

अतः यदि कुगति मे जाना पसद न हो तो मति को व्यवस्थित करना आवश्यक है ।

जब मैने उन्हे इस बात से अवगत कराया तो वे घबराये हुए बोले- "भाईजी । हमारा तो पूरा जीवन ही सक्लेश परिणामो मे बीता है, अब हमारा क्या होगा ? हमारा कल्याण कैसे होगा ?"

मैने कहा - "आप घबराये नहीं । आप लोगो को जो सन्यास और समाधि की भावना हुई, उससे ऐसा लगता है कि अभी आपको अशुभ आयु व खोटी गति का बध नही हुआ है । जिसको अशुभ आयु और खोटी गति का बन्ध हो जाता है, उसकी मति (बुद्धि) भी गति के अनुसार कुमति ही होती है । कहा भी है -

'तादृशी जायते बुद्धि व्यवसाययोपि तादृशः ।
सहाय : स्तादृश : संति, यादृशी भवितव्यता ।।

बुद्धि, व्यवसाय और सहायक आदि सभी कारण-कलाप एक होनहार का ही अनुसरण करते है । अर्थात् जैसी होनहार होती है, तदनुसार ही बुद्धि-विचार उत्पन्न होते है, व्यवसाय-उद्यम भी उसी प्रकार होने लगता है, सहायक निमित्तकारण भी सहजरूप से वैसे ही मिल जाते है ।

अतः स्पष्ट है कि आप लोगो की होनहार भली है, आप निश्चित ही भव्य है, अन्यथा आप लोगो के ऐसे विशुद्ध परिणाम होते ही नही। आप लोगो के वर्तमान के विशुद्ध परिणामो से मुझे तो आपका भविष्य उज्ज्वल ही प्रतीत होता है ।

पद्मनन्दि पचविशतिका मे आचार्य पद्मनन्दि ने स्पष्ट कहा है —

'तत्प्रति प्रीति चित्तेन, येन वार्तापि हि श्रुता ।
निश्चितं सः भवेत् भव्यो भावी निर्वाण भाजिनम् ।।2.2।।

जिसने प्रीति चित्त से भगवान आत्मा की बात भी सुनी है, वह निश्चित ही भव्य है और निकट भविष्य मे ही वह मोक्ष प्राप्त करेगा।'

अतः आप लोग मरण सुधारने की चिन्ता छोड़कर अपने शेष जीवन को सार्थक करने के लिए अपने समय और शक्ति का सदुपयोग करें। अपने उपयोग का लौकिक कार्यों के विकल्पो मे और विकथाओ मे दुरुपयोग न करें। अपने अमूल्य समय का एक क्षण भी विषय-कषाय मे बर्बाद न करें ।

विवेकी और सदासुखी मेरी बातें सुनकर उत्साहित तो हुए, पर उन्होने सुन रखा था कि आयुकर्म का बध तो वर्तमान आयु के त्रिभाग मे हो जाता है अतः उनका मानना था कि - "हमारी आयु के त्रिभाग तो कभी के निकल चुके होगे; क्योकि हम तो बासठ-बासठ बसत देख चुके है ।"

वस्तुतः उन्होने आयु के त्रिभाग के नियम को तो पूरी तरह समझा ही नही था, निमित्त-नैमित्तिक सबध का भी उन्हें यथार्थ ज्ञान नही था। अत. मैने उन्हे वर्तमान आयुकर्म के त्रिभागो मे होने वाले आगामी आयुकर्म के बध की प्रक्रिया समझाते हुए बताया कि - "आगामी (वध्यमान) आयुकर्म का बध, जो वर्तमान (भुज्यमान) आयु के त्रिभाग मे होता है, उस त्रिभाग का समय जीवन मे अधिकतम आठ बार आता है । फिर भी यदि आयुकर्म का बध न हो तो जीवन के अन्त समय मे अर्थात् मरण के अन्तर्मुहूर्त पहले तक भी होता है ।

विवेकी ने कहा, "बात कुछ कठिन हो गई, कुछ समझ मे नही आया। आयुकर्म के त्रिभाग से आपका क्या तात्पर्य है ? कोई उदाहरण देकर समझाइए न ?"

मैने कहा - "हाँ सुनो ! मान लो आपकी वर्तमान (भुज्यमान) आयु इक्यासी वर्ष है तो इक्यासी मे तीन का भार देकर उसमे से एक (तीसरा) भाग घटाने पर अर्थात् दो-तिहाई उम्र बीतने पर इक्यासी वर्ष का प्रथम

त्रिभाग चौवन वर्ष की उम्र मे आयेगा, तब आगामी (वध्यमान) आयु का बंध होगा । यदि उसमे आगामी (वध्यमान) आयु का बध नही हुआ तो शेष बचे वर्तमान आयु के सत्ताईस वर्षो का दूसरा त्रिभाग बहत्तर वर्ष की उम्र मे आयेगा, उसमे आगामी आयुकर्म का बध होगा । तब भी न हुआ तो वर्तमान आयु के नौ वर्षो का तीसरा त्रिभाग अठत्तहर वर्ष की उम्र मे आयेगा, जिसमे आगामी आयुकर्म का बध होगा ।

इसके बाद चौथा त्रिभाग अस्सी वर्ष मे, पाँचवाँ त्रिभाग अस्सी वर्ष आठ माह मे छठवाँ त्रिभाग अस्सी वर्ष दस माह बीस दिन मे, सातवाँ त्रिभाग अस्सी वर्ष ग्यारह माह सोलह दिन व सोलह घंटे मे, और आठवाँ त्रिभाग अस्सी वर्ष ग्यारह माह पच्चीस दिन बारह घटे व चालीस मिनट मे आयेगा जिसमे आगामी आयु का बध होगा ।

इस प्रकार बध्यमान आयुबध के आठ अवसर आते है । यदि इन आठो बार भी आगामी आयु कर्म का बध नही हुआ तो आवली का असख्यातवाँ भाग भुज्यमान आयु का शेष रहने पर तो आगामी आयु का बध अवश्य होता ही है ।

सभवतः अभी आप बासठ-तिरेसठ वर्ष से अधिक नही होगे । इस दृष्टि से विचार करे तो अभी आपकी आयु के त्रिभाग का केवल एक अवसर ही ऐसा निकला है, जिसमे आयुबध की सभावना थी, सात अवसर फिर भी शेष है । अतः अभी आपको सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा आत्मानुभूति प्राप्त करने का सुअवसर है, निराश होने जैसी कोई बात नही है, पर इतना अवश्य समझ लीजिए कि अब 'शुभस्य शीघ्र' की उक्ति के अनुसार शुभ काम मे देर नही होनी चाहिए ।

ध्यान रहे, आजकल निर्व्यसनी, उच्चवर्गीय स्वस्थ शाकाहारी मनुष्यो की औसत आयु सत्तर-पचहत्तर से अस्सी-पचासी वर्ष तो होती ही है, जिसका प्रथम त्रिभाग लगभग पचास से पचपन वर्ष की उम्र मे आता है । दूसरा बहत्तर से पचहत्तर वर्ष की उम्र मे, इसके बाद तो लगभग अठत्तर से अस्सी वर्ष की उम्र में आगामी आयु का बध हो सकता है ।

कदाचित् किसी का आयु बध हो भी गया हो तो भी निराश होकर बैठने के बजाय यदि तत्त्वाभ्यास द्वारा परिणाम विशुद्ध रखा जाय तो आयुकर्म की स्थिति मे उत्कर्षण-अपकर्षण तो हो ही सकता है तत्वाभ्यास निरर्थक नही जाता ।

अतः आपको अब तक की हुई भूल या लापरवाही से घबराने की बात तो बिल्कुल ही नही है, पर दुनियादारी के झमेलो मे अब एक मिनिट भी खराब करना आपके हित मे नही है ।"

मेरी बात से पूर्ण सहमत होते हुए सदासुखी ने कहा - "हाँ, आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं, मैने भी एक बार एक उक्ति सुनी थी । किसी ने कहा था कि 'श्रेयासि बहुविघ्नानि' अच्छे कामों मे विघ्नो की अधिक सभावना रहती है । ऐसे विघ्न-सतोषी लोगो की भी दुनिया मे कमी नही है, जिन्हे दूसरो के अच्छे कामो मे विघ्न डालने मे ही सुख मिलता है । अतः हम आपके निर्देशो का पूरी तरह पालन करने का प्रयत्न करेगे । पर यह तो बताइए कि इसके लिए हमे सर्वप्रथम क्या करना चाहिए ?"

उन्हे मार्गदर्शन देते हुए मैने कहा - "जिनके जीवन मे मानसिक शान्ति रहेगी, जिनका जीवन विषय-कषायो से सक्लेशित नही होगा, जिनके जीवन मे विशुद्ध परिणाम रहेगे, उन्हे अशुभ गतियो मे जाने की कारणभूत नरक-तिर्यच आयु का बध ही नही होगा । ऐसी स्थिति मे उनका कु-मरण कैसे हो सकता है ? वे तो जब भी देह छोड़ेगे समता और समाधिपूर्वक ही छोडेगे ।

पर ध्यान रहे, जिनका जीवन सुख-शान्ति एव निराकुलता मे बीतता है, उन्ही का मरण समाधिपूर्वक होता है । अतः हमे मरण सुधारने के बजाय जीवन को सुधारने का ही प्रयत्न करना होगा ।"

विवेकी ने कहा - "यह तो ठीक है, पर मानसिक शान्ति कैसे रहेगी ? उसका क्या उपाय है ? हमारा जीवन, विषय-कषायो से कैसे बचे ? हमारे परिणाम विशुद्ध कैसे रहें ? इन सबकी विधि भी तो बताइए।

ऐसे उपदेश तो हमने बहुत बार सुने कि कषाय मत करो, शान्ति रखो, विषयो से बचो आदि; पर उनसे कुछ भी काम नहीं बना, इन उपदेशो से कषाये किंचित् भी कम नही हुई । जब तक हमारे मनोविकारो को जन्म देने वाली सासारिक समस्याओ का समुचित समाधान नही होता, तब तक इन क्रोधादि मनोविकारो का अभाव कैसे हो सकेगा ? अतः जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य मे हमे कोई ऐसा मार्गदर्शन दीजिए – ऐसा उपाय बताइए कि हमे सर्वप्रथम क्या करना चाहिए; ताकि हम अपने जीवन मे उन उपदेशो को सार्थक कर सकें ।"

मैने उन्हे जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धात वस्तुस्वातत्र्य और कर्ता-कर्म के स्वरूप के माध्यम से मनोविकारो की उत्पत्ति न होने का उपाय समझाते हुए बताया कि - "तीन लोक मे जितने भी पदार्थ है, वे सब अपने-अपने स्वभाव से स्वतत्र रूप से मिलते-बिछुडते है, स्वय ही आते-जाते है। उनमे परस्पर कर्ता-कर्म सबध नही है, मात्र निमित्त-नैमित्तिक सबध है। कहा भी है -

होता स्वयं जगत परिणाम,<br>
मैं जग का करता क्या काम ?

जब सयोग के मिलाने मे या अलग करने मे, किसी का भला-बुरा होने मे, सुख-दुख पाने मे किसी अन्य का कुछ हस्तक्षेप ही नही है तो कोई किसी पर बिना कारण क्रोधादि क्यो करें ? खेद-खिन्न क्यो हो ? हर्ष-विषाद क्यो करे ? सक्लेशित भी क्यो हो ?

वस्तुस्वातत्र्य के सिद्धात की श्रद्धा वाले व्यक्ति तो केवल ज्ञाता-दृष्टा रहकर सब परिस्थितियो में साम्यभाव ही धारण करते हैं, उन्हें सयोगो मे सुखबुद्धि नही रहती; क्योंकि वे जानते हैं कि सयोगो मे सुख है ही नही ।

पुण्य-पाप के सिद्धातानुसार भी कोई किसी को सुखी-दुःखी नहीं कर सकता । अतः पुण्य-पाप का यथार्थ श्रद्धान होने से भी पर के प्रति राग-द्वेष की परिणति कम हो जाती है ।

आचार्य अमितिगति ने सामयिक पाठ मे अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा है -

स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते ।
करे आप फल देय अन्य तो, स्वयं किये निष्फल होते ॥
अपने कर्म सिवाय जीव को, कोई न फल देता कुछ भी ।
पर देता है यह विचार तज, थिर हो छोड़ प्रमाद बुद्धि ॥"

जब मैने उन्हे सक्षेप मे यह समझाया तो वे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होने भारी सतोष व्यक्त किया । मानो उन्हें कोई निधि मिल गई हो अथवा उनके हरे-भरे घावो पर शीतलता प्रदान करने वाली मलहम लगा दी गई हो । ●

# १०

मैने कहीं पढ़ा था कि देवगति मे सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्रो का तेतीस-तेतीस सागरो जैसा लम्बा समय तत्वचर्चा मे मात्र तेतीस वर्ष की अल्प अवधि की भाँति बीत जाता है । उन्हें पता ही नही लगता, इतना लबा जीवन कब/कैसे बीत गया ।

पर मुझे यह बात जँचती नही थी कि कहाँ तो तेत्तीस सागरो की कल्पनातीत-अमाप अवधि और कहाँ तेतीस वर्षो की नगण्य अल्प अवधि। इतना लबा समय इतनी अल्प अवधि की भाँति कैसे निकल जाता होगा?

परन्तु जब मेरे उस पहाडी पर्यटन केन्द्र पर धार्मिक चर्चा मे दो महीने दो दिन की भाँति निकल गये तब मुझे विश्वास हो गया कि तत्वचर्चा व सुखद वातावरण मे ऐसा प्रतीत होना कोई असभव बात नही है ।

× × ×

इस दो महीने के समय मे ही घर से बेटे-बहुओ और पोते-पोतियो का अनेक बार बुलावा आ चुका था और हमे भी कुछ-कुछ उनकी याद सताने लगी थी । एक दिन मन मे विचार आया कि - "जिज्ञासुओ की जिज्ञासा तो उस अग्नि के समान है, जो घी की आहूतियो से कभी तृप्त नही होती । आखिर कभी न कभी तो घर जाना ही होगा । जब जायेगे, ये लोग तो तभी दु:खी होगे और इनका अधिक से अधिक दिनो तक रोकने का आग्रह कभी कम नही होगा ।

' इसमे इन बेचारो का दोष भी क्या है, राग का तो स्वरूप ही ऐसा है। अतः एक न एक दिन तो थोड़ा बहुत कठोर रुख अपनाना ही पडेगा । अतः क्यो न कल ही कह दिया जाय कि - "अब हमे शीघ्र ही घर पहुँचना है । सभी लोग बहुत याद कर रहे है । बुलावे

के सदेशो पर सदेश आ रहे हैं । और हम भी कौन से वीतरागी हो गये हैं ? हमे भी उनकी याद आने लगी है । अतः हमने एक-दो दिन मे ही घर जाने का निश्चय कर लिया है।"

मेरे द्वारा यह विचार प्रगट करने पर उन लोगो मे वैसी ही प्रतिक्रिया हुई, जैसी मुझे सभावना थी । कोई भी व्यक्ति मुझे वापिस घर जाने देने के लिए मन से राजी नही था । इधर मेरे हृदय मे भी उनके प्रति अटूट धर्म स्नेह हो गया था । अतः मै भी उनका साथ छोड़ने की कल्पना मात्र से भावुक हो उठा था ।

इस मोह की महिमा ही कुछ ऐसी विचित्र है कि दोनो तरफ से ही मार करता है । इसीकारण तो साधु-सत चातुर्मास के अतिरिक्त एक स्थान पर अधिक काल तक नही रुकते । अन्यथा यह मोह उन्हे भी अपने मोहजाल मे फासे बिना नहीं मानता ।

वस्तुतः बहता पानी व भ्रमता योगी ही पवित्र रहता है - चौमासे में एक साथ चार माह तक एक ही स्थान पर रुकना तो साधु-संतों की बाध्यता है, मजबूरी है; पर वे उन चौमासे के दिनों में भी इस मोहमाया से पूर्ण सावधान रहते है, गृहस्थों के संपर्क में अधिक नहीं रहते । उनसे दूर ही रहते हैं और रहना भी चाहिए; क्योंकि गृहस्थों के अधिक सान्निध्य से उन्हे दोष लगता है, उनमें मोह उत्पन्न होने की संभावना भी रहती है ।

जब निर्मोही साधु-संतों के जीवन में यह संभावना हो सकती है तो हम-तुम जैसे साधारण श्रावकों की तो बात ही क्या है ? हम-तुम तो वैसे भी मोहमाया में आकठ निमग्न हैं ।

× × ×

उस पहाड़ी पर्यटन केन्द्र पर दो माह तक रहने से और समय-समय पर सदासुखी व विवेकी के घर आते-जाते रहने से उनके पूरे परिवार के निकट सपर्क मे आने के कारण उन सबसे मेरा घनिष्ठ परिचय तो हुआ ही, मेरी विचारधारा का एव गृहस्थोचित लोक-व्यवहार का भी

उनके परिवार पर अच्छा प्रभाव पडा । परिणाम यह हुआ कि उनके परिवार मे—पिता-पुत्रो व सास-बहुओ मे अब तक जो मन-मुटाव रहा करता था, वह भी मिट गया और उनमे परस्पर प्रेम और धर्म के प्रति आस्था भी उत्पन्न हो गई ।

उनके जीवन मे अनायास हुए इस असभावित परिवर्तन से वे तो प्रसन्न और प्रभावित थे ही, उनके अड़ौसी-पड़ौसी एव उनसे सबधित अन्य अनेक परिवार भी मेरी चर्चा व व्यवहार से किसी न किसी रूप मे प्रभावित थे । अत सभी की इच्छा रहती थी कि मै वहाँ अधिकतम रुकूँ ।

पर, मेरी भी अपनी कुछ निजी परिस्थितियाँ थी, जिनके कारण मेरा घर पर लौटना आवश्यक था । वैसे भी आखिर घर से बाहर रहने की कुछ न कुछ मर्यादाये तो होती ही है । मै कोई साधु-सत तो था नही, फिर साधु-सत भी तो एक ही स्थान पर अधिक काल तक नही ठहरते ।

इसी बीच मुझे बुलाने के घर से मेरे पास अनेक सदेश भी आ चुके थे, अत. मेरा घर पहुँचना आवश्यक हो गया था ।

सपत्नीक मेरे वापिस घर लौट आने पर मेरे प्रति उनका स्नेह और अधिक बढ़ गया था । अतः पत्राचार से परोक्ष सपर्क तो उन्होने रखा ही, कुछ ही दिनो मे वे दोनो प्रबुद्ध परिवार अपने पडौसियो सहित धर्मलाभ की भावना से कुछ दिन के लिए मेरे पास आ गये ।

उन्होने आते ही अपनी लबी यात्रा के बीच हुई व्यथा-कथा किए बिना और आव-भगत की अपेक्षा किए बिना मात्र यह निवेदन किया कि "भाई जी। हम लोग आपके सान्निध्य का अधिकतम लाभ लेने आये हैं, अतः आप ऐसा कार्यक्रम बनाये, जिससे आपको विशेष कष्ट हुए बिना हमे आपका पूरा-पूरा लाभ मिल सके और हम जीवन जीने की कला मे पूर्ण पारंगत हो सकें । हम अपने शेष जीवन को सार्थक कर लेना चाहते है ।"

मैने मार्गदर्शन करते हुए कहा- "आपको सूर्योदय के पूर्व ब्रह्ममुहूर्त मे उठकर सर्वप्रथम पचपरमेष्ठी के स्वरूप का स्मरण करना चाहिए । तत्पश्चात् 'मै कौन हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है ? मेरे लिए क्या हेय है और क्या उपादेय ?' इसका विचार करना चाहिए ।

देखो न ! श्रीमद् राजचन्द्र इस विषय मे क्या कहते हैं ? वे अतीन्द्रिय आनद के रसपान की विधि बताते हुए कहते है –

**'मैं कौन हूँ, आया कहाँ से, और मेरा रूप क्या ?**
**संबंध सुखमय कौन है, स्वीकृत करूं परिहार क्या ?**
**इसका विचार विवेक पूर्वक शान्त होकर कीजिए ।**
**तो सर्व आत्मिक ज्ञान अरु सिद्धात का रस पीजिए ।'**

अनादिकाल से अज्ञानी जीव की देह मे व रागादि भावो मे ही एकत्वबुद्धि है, वह आत्मा के शुद्ध स्वरूप को नही जान पाया । इस कारण उसे आत्मानुभूति नही हुई, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नही हुई ।

देह की उत्पत्ति मे वह अपनी उत्पत्ति मानता है, देह के विनाश मे अपना विनाश मानता है । इसीप्रकार देह यदि गोरी-काली, रोगी-निरोगी, पतली-मोटी हो तो वह स्वय को ही उत्पत्ति-विनाशरूप, गोरा-काला, रोगी-निरोगी, मोटा-दुबला मान लेता है । इसी तरह विकारी पयार्य मे एकत्व होने से स्वय को ही क्रोधी, मानी, मायावी व लोभी मान लेता है। अत. उससे कहते है कि भाई ! तू ऐसा विचार कर कि -

"मै तो ज्ञानानन्द स्वभावी अपने आप मे स्वय परिपूर्ण वस्तु हूँ । मुझे पूर्णता प्राप्त करने के लिए एव सुखी होने के लिए किसी भी पर वस्तु के सहयोग की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है ।

काला-गोरा आदि तो पुद्गल के परिणाम हैं । जब मुझ मे जड़ पुद्गल जैसे रूप, रस, गध, स्पर्शादि हैं ही नहीं; तो मेरे काले-गोरे होने की तो बात ही कहाँ से आई ?

**'मैं' तो अरस, अरूप, अगध एवं अस्पर्श स्वरूपी चैतन्य तत्व हूँ। मेरा पर पदार्थों से कुछ भी संबंध नहीं है । मैं तो शुद्ध-बुद्ध निरंजन-निराकार एक परम पदार्थ हूँ तथा पर की परिणति से सदा अप्रभावी हूँ ।**

**मैं ज्ञान का घनपिण्ड, आनन्द का रसकंद, चैतन्य सूर्य हूँ । मैं स्वयं ही ध्येय हूँ, श्रद्धेय हूँ, ज्ञान हूँ एवं ज्ञायकस्वभावी भगवान हूँ।**

आचार्यकल्प पडित टोडरमलजी ने भी श्रोता के स्वरूप का निरूपण करते हुए यही कहा है कि - **"सर्वप्रथम विचार करो कि - मै कौन हूँ ? मेरा क्या स्वरूप है ? यह चरित्र कैसे बन रहा है ? ये मेरे भाव होते है, इनका क्या फल लगेगा । जीव दुःखी हो रहा है सो दुःख दूर होने का क्या उपाय है --- ?"**

अतः प्रतिदिन प्रातःकाल बिस्तर छोडते ही हाथ-पॉव और मुँह धोकर, आलस त्याग कर, पूर्ण सचेत होकर शान्त व एकान्त स्थान मे बैठकर णमोकार मत्र के माध्यम से पचपरमेष्टी के स्वरूप का विचार किया करो । उसमे विचार करो कि – 'हे प्रभो । मुझमे और आप मे कोई अन्तर नही है, जैसे अनन्त ज्ञान-दर्शन के घनपिण्ड आप है, वैसा ही मै हूँ, स्वभाव से जैसा मै हूँ, वैसे ही आप है । एक समय की पयार्य मे आप मे और मुझमे मात्र इतना अन्तर है कि आप वीतरागी हो गये है और मै अभी रागी-द्वेषी हूँ । इस अन्तर को मै अपने सम्यक् पुरुषार्थ से जब चाहूँ तब बदल सकता हूँ । कहा भी है -

'मम स्वरूप है सिद्ध समान । अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान
किन्तु आश वश खोया ज्ञान । बना भिखारी निपट अजान
हूँ स्वतत्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता-दृष्टा आतमराम [1]

तत्पश्चात् भेदज्ञान की विधि से अपने आत्मा के स्वरूप का विचार किया करो ।

1 आत्मकीर्तन सहजानदवर्णी

'मैं रागरग से भिन्न, भेद से भी मैं भिन्न निराला हूँ ।
मैं हूँ अखण्ड चैतन्य पिण्ड, निज रस में रमने वाला हूँ ॥[1]

× × ×

'अनुज-अग्रज सुत-सुता प्रिय सुहृद जन सब भिन्न हैं;
ये शुभ-अशुभ संयोगजा चिद्वृत्तियाँ भी अन्य है ।
स्वोन्मुख चिद्वृत्तियाँ भी आत्मा से अन्य हैं;
चैतन्यमय ध्रुव आत्मा गुण भेद से भी भिन्न हैं ॥[2]

इसप्रकार भेदज्ञान द्वारा ऐसा विचार करो कि – "मैं राग से, देह से, गुणभेद से व निर्मल पर्यायों से भी सर्वथा भिन्न हूँ । मैं अनुज-अग्रज, पुत्र-पुत्री, मित्रजन से तो भिन्न हूँ ही, शुभ-अशुभ रूप चैतन्य की वृत्तियों से भी अन्य हूँ ।"

स्वाध्याय की प्रेरणा देते हुए मैने आगे कहा – "ससार, शरीर व भोगो से विरक्ति के लिए बारह भावनाओ के माध्यम से इनकी क्षणभगुरता एव असारता का भी विचार करना । जैसा कि यत्र-तत्र कहा गया है । वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझ के लिए आध्यात्मिक ग्रथो का अध्ययन करना भी आवश्यक है ।

तभी विशुद्ध परिणाम होगे और राग-द्वेष कम होगे, कषाये कृश होगी और समता व समाधि की प्राप्ति होगी ।"

मेरे इस कथन से वे भारी प्रसन्न हुए और उन्होने उसी समय मुझे आश्वस्त करते हुए मेरे सामने ही इस दिशा मे सक्रिय होने का दृढ़ सकल्प किया । उनके इस अलौकिक परिवर्तन से मुझे भारी प्रसन्नता हुई । इसके लिए मैने तो उन्हे धन्यवाद दिया ही, उन के मुखमण्डल पर भी कृतज्ञता की भाव झलक आया । •

---

1 आत्मगीत . डॉ भारिल्ल
2 बारह भावना डॉ भारिल्ल

## ११

विवेकी और सदासुखी के द्वारा निरन्तर गहन अध्ययन, मनन और चिन्तन करने से दिन प्रतिदिन उनके ज्ञान मे वृद्धि एव प्रतिभा मे विकास हो रहा था । अब उन्होने घर-बाहर की सब चिन्ताएँ छोडकर अपने जीवन को आत्महित मे समर्पित करने का सकल्प कर लिया था ।

उनकी इस आत्मोन्नति से मै बेहद प्रसन्न था । पर सन्यास और समाधि के सबध मे वे अभी भी भ्रमित थे । वस्तुतः वे अभी वस्तुस्वरूप के यथार्थ तक नही पहुँच पाये थे ।

उन्होने सुन रखा था कि - "जिसतरह साल भर मे पढाई करने पर भी यदि विद्यार्थी परीक्षा मे सफल नही होता तो उसका श्रम सार्थक नही माना जाता । उसीतरह जिनका मरण समाधिपूर्वक होता है, उनका ही मानव जीवन सार्थक माना जाता है और अब तक की साधना-आराधना सफल समझी जाती है ।"

इसकारण वे अपने समाधिमरण के विषय मे बहुत सजग थे, समाधि से सबधित विषयो का अध्ययन-मनन भी बहुत किया करते थे, पर अभी तक वे मृत्यु को महोत्सव के रूप मे स्वीकार नही कर पा रहे थे । इस सबध मे विवेकी का कहना था - "जो जीवन भर मृत्यु के भय से भयभीत रहे हो, जिन्हे प्रतिपल मौत का आतक आतंकित किए रहता हो, मरण की कल्पना मात्र से जिनका दिल दहल जाता हो, हृदय काँप उठता हो, वे मृत्यु जैसी दुःखद दुर्घटना को महोत्सव के रूप मे कैसे मना सकते है ? उनके लिए वह मनहूस घडी महोत्सव जैसी सुखद कैसे हो सकती है ?

महोत्सव किसी भी प्रकार का क्यो न हो, वह तो हर्ष के माहौल मे ही मनाया जाता है, एक सुखद प्रसग ही माना जाता है । चाहे

वह किसी का जन्मोत्सव हो, विवाहोत्सव हो, अथवा धार्मिक, सामाजिक व राष्ट्रीय उत्सव हो - सभी महोत्सव प्रसन्नता के प्रतीक ही होते है।

अपनी बात के स्पष्टीकरण मे उसका कहना था कि - "यदि मरने वाला व्यक्ति बहुत बड़ा आदमी हो तो उसकी शवयात्रा बहुत विशाल हो सकती है, उसकी चिता चदन की बनाई जा सकती है, उसका अन्तिम सस्कार राष्ट्रीय सम्मान के साथ किया जा सकता है, पर उस दुःखद प्रसग को महोत्सव नही कहा जा सकता ।

जिस कुटुम्ब-परिवार, समाज या राष्ट्र की ऐसी अपूरणीय क्षति हुई हो, जिसकी पूर्ति सभव ही नहीं हो, भला वह उस अपूरणीय क्षति पर प्रसन्नता सूचक महोत्सव कैसे मना सकता है ?

जिन्हे दिवगत व्यक्ति के प्रति असीम स्नेह है, अटूट प्रेम है, हार्दिक अनुराग है, उसकी चिरविदाई मे वे प्रसन्न कैसे हो सकते है ? मोही व्यक्तियो के लिए तो मृत्यु इष्ट वियोग का कारण होने से दुःखद ही होती है । भला वे इस अन्तहीन वियोग की निमित्तभूत दुःखद मृत्यु को महोत्सव का रूप कैसे दे सकते हैं ?"

कल्पना कीजिए - "कदाचित् किसी ने किसी की मृत्यु पर हर्ष सूचक वाद्यध्वनि भी बजवा दी तो लोग उसके बारे मे क्या सोचेगे ?

फिर भी हमारे आचार्यो या मनीषियो ने मृत्यु को महोत्सव की सज्ञा देकर ऐसी असभव कल्पना क्यो कर डाली ?"

विवेकी की यह ज्वलत समस्या थी, जिसका समाधान उसे नही मिल पा रहा था, क्योंकि भौतिक जगत और हम-तुम सब प्रतिदिन प्रत्यक्ष देखते भी यही है कि मरने वाले अपने सभी प्रियजनो को रोता-बिलखता छोडकर सदा-सदा के लिए चले जाते हैं; फिर कभी नहीं मिलते । ऐसी स्थिति मे कोई भी मृत्यु को महोत्सव कैसे मान सकता है ?

पर इसमे विवेकी की मूल भूल यह थी कि वह इस लोकोत्तर या आध्यात्मिक स्मस्या का समाधान भी इस भौतिक या लौकिक जगत मे

ही खोज रहा था । इस कारण उसे इसका समुचित समाधान कहाँ से मिलता ?

मेरे सामने भी उसने यह समस्या रखी थी; पर उस दिन तो उपयुक्त अवसर न होने से मैं उसका समाधान नहीं कर पाया था, किन्तु एक दिन जब मैं सप्तभयो से भयभीत व्यक्तियों को सम्यग्दृष्टि के समान निर्भय रहने की प्रेरणा दे रहा था, निर्भीक होकर 'जीने की कला' पर प्रकाश डाल रहा था, तब विवेकी को सामने बैठा देख मुझे उसका वह प्रश्न स्मरण हो आया, जिसमे उसने मृत्यु को महोत्सव मानने मे शका प्रगट की थी ।

उस प्रश्न के संदर्भ में मैंने उसे संबोधित करते हुए कहा - "देखो, भाई विवेकी ! यह तो मै भी मानता हूँ कि मनीषियो द्वारा मृत्यु को महोत्सव कह देने मात्र से मृत्युभय से भयभीत यह जगत मृत्यु को महोत्सव मानने वाला नही है । और जब तक अन्तःकरण से बात स्वीकृत न हो तब तक किसी भी दबाव मे आकर तात्त्विक बात को भी शिरोधार्य कर लेने से कोई लाभ नही होता ।

अतः इसके सही समाधान के लिए मै आगम, युक्ति एवं स्वानुभव से यह बात कह रहा हूँ । आपको यहाँ इतना तो निश्चित ही मानकर चलना चाहिए कि मृत्यु जैसे गभीर प्रसग को होली-दिवाली जैसे हर्षोल्लास के साथ मनाये जाने वाले उत्सव की भाँति तो नही मनाया जा सकता। इस अर्थ मे आगम मे मृत्यु को महोत्सव कहा भी नहीं है ।

मृत्युमहोत्सव की तुलना हम उस बेटी की विदाई से कर सकते हैं, जो योग्य वर के साथ बड़े घर मे ब्याही गई हो ।"

उदाहरण को स्पष्ट करने के लिए मैंने विवेकी से यह पूछा - "बताओ विवेकी ! योग्य वर के साथ बड़े घर मे ब्याही गई बेटी की विदाई सुखदायी है या दुःखदायी ?"

विवेकी मेरे इस प्रश्न को सुनकर कुछ कहे बिना मेरी ओर आँखें फाड़-फाड़कर देखता रहा ।

थोड़ी देर तक कुछ उत्तर न मिलने पर मैंने ही बात को आगे बढ़ाते हुए कहा - "यदि वह विदाई दुःखद हो तो कोई विवाह ही क्यों करे?"

यह सुनते ही विवेकी ने उत्साहित होकर कहा - "हाँ, यह बात तो है। बिना कारण कोई दुःख मे क्यों पड़ेगा ? यह स्थिति तो बेटी और माँ-बाप सबके लिए सुखद है । भला सपन्न घर मे एवं योग्य वर के साथ बेटी का विवाह हो जाना कोई सहज बात तो नहीं है ! ऐसा सौभाग्य सबको कहाँ मिलता है, वह भी इस जमाने मे जबकि सभी के सिर पर दहेज का भूत सवार हो ?"

उसके इस उत्तर को सुनकर मैने कहा - "तुम्हारे मतानुसार ही यदि बिना दहेज दिए बडे घर मे ब्याही गई बेटी की विदाई सुखदायी है तो फिर बेटी एव उसके माता-पिता विदाई के समय रोते क्यो हैं?

माता-पिता तो बेटी का विवाह उसके सुख और अपने सतोष के लिए ही करते है और उसे ससुराल मे सुखी देख खुश भी होते हैं तथा सुख का अनुभव भी करते हैं । भले ही बेटी की विदाई के समय अपने से उसकी जुदाई होने के कारण मोहवश रोना आ जाता हो; पर उनका वह मोहजनित तात्कालिक दुःख वस्तुतः दुःखरूप नहीं है । इस कारण उनके उन आँसुओ पर कोई आँसू नही बहाता ।

वस्तुतः वह विदाई दुःखदायी नहीं, सुखदायी विदाई ही है । ऐसी विदाई मे ऐसा ही होता है, रोना-हँसना एक साथ होता है, ऊपर से रोते दिखाई देते है; पर रोते नहीं हैं । किन्तु उनका वह रोना नकली भी नही है, इस विदाई का तो स्वरूप ही कुछ ऐसा है, इसे ही सुखदायी विदाई कहते हैं ।

हाँ, यह बात अलग है कि बेटी और माँ-बाप के पूर्व पापोदय से दुःखद सयोग मिल जावे तो क्या माता-पिता और क्या बेटी, सभी विदाई के समय अन्तःकरण से दुःखी होते हैं और बिलख-बिलख कर रोते भी हैं, वह विदाई वस्तुतः दुःखद विदाई ही है ।

ठीक इसीप्रकार चिरविदाई (मृत्यु) भी दो तरह की होती है – 1. सुखदायी, 2. दुःखदायी ।

यदि व्यक्ति ने जीवन भर सत्कर्म किए हैं, पुण्यार्जन किया है, सदाचारी जीवन जिया है, अपने आत्मा व परमात्मा की पहचान करके उनका आश्रय व आलम्बन लिया है, परमात्मा के बताये पथ पर चलने का पुरुषार्थ किया है तो निश्चित ही उसकी वह चिरविदाई की बेला सुखदायी होगी; क्योंकि उसके सत्कर्मों के फलस्वरूप वर्तमान वृद्ध, रोगी एव जीर्ण-शीर्ण शरीर के बदले मे सुन्दर शरीर, सुगति व नाना प्रकार के सुखद सयोग मिलने वाले हैं।

जिसतरह किसी को पहनने के लिए नया सुन्दर वस्त्र तैयार हो तो पुराना, जीर्ण-शीर्ण, मैला-कुचैला वस्त्र उतार कर फैकने मे उसको कष्ट नही होता; उसी तरह जिसने नई पुण्य की कमाई की हो, सत्कर्म किए हो, उसे तो नवीन दिव्य देह ही मिलने वाली है, उसे पुराना शरीर छोड़ने मे कैसा कष्ट ? ऐसी मृत्यु को ही मृत्यु महोत्सव या सुखदायी विदाई कहते हैं ।

ऐसी चिरविदाई (मृत्यु) के समय सगे-सबधी रागवश बाहर से रोते दिखाई देते है, पर अन्दर से उन्हे इस बात का सतोष व हर्ष होता है कि दिवगत आत्मा की सद्गति हुई है । जैसे कि अच्छे घर मे ब्याही बेटी को विदा करते समय माँ-बाप रागवश रोते तो है, पुरन्तु अन्दर से उन्हे इस बात का सतोष व हर्ष होता है कि मेरी बेटी सुखद सयोगो मे गई है ।

इसके विपरीत जिसने जीवन भर दुष्कर्म किए हो, पापाचरण किया हो, दुर्व्यसनो का सेवन किया हो, दूसरो पर राग-द्वेष करके सक्लेश भाव किए हो, जो दिन-रात खाने-कमाने मे ही अटका रहा हो, विषय-कषायो के कटकाकीर्ण वन मे ही भूला-भटका रहा हो, जिसने जीवन भर अरण्य रुदन ही किया हो, उसे तो इन कुकर्मों के फल मे कुगति ही होनी है, दुःखदायी सयोगों मे ही जाना है । उसकी

परिणति भी सक्लेशमय हो जाती है, वह सक्लेश भावों से ही मरता है । उसकी इस चिरविदाई की बेला को दुःखदाई विदाई कहते हैं । ऐसे व्यक्ति की मृत्यु कभी महोत्सव नहीं बन सकती । जैसे कि दुःखद सयोगो मे ब्याही गई बेटी की विदाई तो माँ-बाप को जीवन भर के लिए दुःखद ही होती है ।

मृत्यु को महोत्सव बनाने वाला मरणोन्मुख व्यक्ति तो जीवनभर के तत्त्वाभ्यास के बल पर मानसिक रूप से अन्दर मे तैयार होता है और विदाई देनेवाले व्यक्ति भी बाहर से वैसा ही वैराग्यप्रद वातावरण बनाते है, तब कही वह मृत्यु महोत्सव बन पाती है ।

इस वातावरण मे परिवार के मोही व्यक्ति भी क्षण भर के लिए वियोगजनित दुःख भूल जाते हैं तथा सभी सुख व सतोष का अनुभव करने लगते है ।

वस्तुतः मृत्यु के समय मरणासन्न व्यक्ति की मनःस्थिति को मोह-राग-द्वेष आदि मनोविकारो से बचाने, पाचो इंद्रियो के विषयो से तथा परद्रव्य पर अटकने-भटकने से भी बचाने तथा आत्मसम्मुख करने के लिए ससार, शरीर व भोगो की असारता को बताने वाला वैराग्यवर्द्धक तथा सयोगो की क्षणभगुरता दर्शानेवाला और आत्मा के अजर, अमर व अविनाशी स्वरूप का ज्ञान कराने वाला आध्यात्मिक वातावरण बनाना जरूरी है । इसके बिना मृत्यु महोत्सव नही बन सकती ।

कभी-कभी परिजन-पुरजन मोह व अज्ञानवश अपने प्रियजनो को मरणासन्न देखकर या मरण की सभावना से भी रोने लगते हैं, इससे मृत्युसन्मुख व्यक्ति के परिणामो मे सक्लेश होने की सभावना बढ़ जाती है; जबकि उसे समतापूर्वक निष्कषायभाव से, शातभावो से देह त्यागने मे सहयोग करना चाहिए, तभी मृत्यु महोत्सव बन पाती हैं ।"

इसी बीच एक मुँहफट-बातुनी श्रोता बोला - "जब मृत्यु के समय कान मे णमोकार मत्र के सुनने-सुनाने मात्र से मृत्यु महोत्सव बन जाती है तो फिर जीवन भर जिनवाणी के अध्ययन की क्या आवश्यकता है ?"

जैसा कि जीवन्धर चरित्र में आई कथा से स्पष्ट है । उस कथा मे तो साफ-साफ कहा गया है कि महाराजा सत्यन्धर के पुत्र जीवन्धर कुमार के द्वारा एक मरणासन्न कुत्ते के कान में णमोकार मंत्र सुनाया था, जिसके परिणाम स्वरूप वह कुत्ता स्वर्ग मे अनेक ऋद्धियों का धारक महर्द्धिक देव हुआ । इससे बड़ा प्रमाण और क्या चाहिए ? क्या पुराणो की बातें गलत हो सकती हैं ?

मैने उस की जिज्ञासा शात करते हुए कहा - "अरे भाई ! यह राजमार्ग नहीं हैं । अन्यथा मुनि बनने और आत्म साधना का उपदेश क्यो दिया जाता ? कदाचित् कभी अंधे के हाथ बटेर लग जाये तो इसका अर्थ यह तो नही कि बटेर पकड़ने के लिए आँख की आवश्यकता ही नही है । जिस तरह युद्ध के मैदान में सफलता प्राप्त करने के लिए जीवन भर अस्त्र-शस्त्र कला का अभ्यास जरूरी है, उसी तरह मृत्यु को महोत्सव बनाने के लिए जीवन भर तत्त्वाभ्यास जरूरी है ।

तुमने जो जीवन्धर चरित्र (क्षत्रचूड़ामणी) मे आई कुत्ते को स्वर्ग प्राप्त होने की कथा के सदर्भ मे प्रश्न किया है, वह अवश्य ही विचारणीय है क्योंकि वह भी तो पौराणिक कथा है । परंतु उस कथन के अभिप्राय को समझने के लिए हमे प्रथमानुयोग के शास्त्रो (पुराणों) की कथन पद्धति एव उनके व्याख्यान का विधान समझना होगा । एतदर्थ पण्डित टोडरमलजी कृत मोक्षमार्ग प्रकाशक का निम्न कथन द्रष्टव्य है, जैसे — "किसी ने उपवास किया उसका फल तो अल्प था, परंतु उसे अन्य धर्म परिणति की विशेषता हुई, इसलिए विशेष उच्च पद की प्राप्ति हुई, वहाँ उसको उपवास ही का फल निरूपित करते हैं ।

जिस प्रकार किसी ने नमस्कार मत्र का स्मरण किया व अन्य धर्म साधन किया, उसके कष्ट दूर हुए, अतिशय प्रगट हुए; वहाँ उन्ही का वैसा फल नहीं हुआ, परन्तु अन्य किसी कर्म के उदय से वैसे कार्य हुए हैं; तथापि उनको उन शीलादि का ही फल निरूपित करते हैं । उसी प्रकार कोई पापकार्य किया, उसको उसी का तो वैसा फल नहीं

हुआ है, परंतु अन्य कर्म के उदय से नीच गति का प्राप्त हुआ अथवा कष्टादि हुए, उसे उसी पाप का फल निरूपित करते हैं।"

यदि उपर्युक्त प्रश्न को हम इस संदर्भ मे देखे तो उस कुत्ते को न केवल णामोकार मत्र के शब्द कान मे पड़ने से स्वर्ग की प्राप्ति हुई, बल्कि उस समय उसको कषायें मद रहीं होगी, परिणति विशुद्ध रही होगी, निश्चित ही वह जीव अपने पूर्वभवो में धर्म संस्कार से युक्त रहा होगा । पर प्रथमानुयोग की शैली के अनुसार 'णमोकार महा मत्र' द्वारा पच परमेष्ठी के स्मरण की प्रेरणा के प्रयोजन से उसकी स्वर्ग की प्राप्ति को मात्र णमोकार मत्र का फल निरूपित किया है । जो सर्वथा उचित है, और प्रयोजन की दृष्टि से पूर्णसत्य है, यथार्थ है । जिनवाणी के सभी कथन मतार्थ की मुख्यता से ही होते हैं । अतः उनका अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए, अभिधेयार्थ ग्रहण करना चाहिए, शब्दार्थ नहीं ।

यद्यपि लोकदृष्टि मे लोकविरुद्ध होने से अन्य उत्सवों की भाँति मृत्यु का महोत्सव खुशियो के रूप मे तो नहीं मनाया जा सकता, पर तत्त्वज्ञानियों द्वारा मृत्यु को महोत्सव जैसा महसूस तो किया ही जा सकता है ।

जब इस जीव को भेदज्ञान के बल से निज-पर का विवेक जागृत हो जाता है, अपने अमरत्व की श्रद्धा हो जाती है; तब वह तत्त्वाभ्यास से ऐसा अनुभव करने लगता है कि - "मै तो इस विनाशीक शरीर से भिन्न अजर-अमर-अविनाशी हूँ । मेरी तो कभी मृत्यु होती ही नही है । मृत्यु तो केवल एक देह से दूसरी देह मे गमन क्रिया का नाम है, जो कि आयुपूर्ण होने पर अवश्यभावी है । जब आयुकर्म की स्थिति पूर्ण हो जाती है तो न चाहने पर भी जीव को एक देह से दूसरी देह मे जाना ही पड़ता है, देह को छोड़ना ही पड़ता है तथा जीर्ण-शीर्ण और असाध्य रोगी होते पर सपन-साधना में असमर्थ देह को छूटना ही चाहिए, अन्यथा जीर्ण-शीर्ण शरीर को कोई कब तक ढोता रहेगा ?"[१]

लोक मे जिसतरह व्यक्ति जब पुराना वस्त्र त्यागकर नया वस्त्र धारण करता है तो प्रसन्न ही होता है, उसीतरह लोकोत्तरमार्ग मे भी जब समाधिमरण के माध्यम से जीव वृद्ध व रोगी शरीर को त्याग कर नवीन शरीर धारण करता है तो उस समय भी प्रसन्न ही होना चाहिए ।

देह मे एकत्व-ममत्व रखने वाले मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी जीवो के लिए मृत्यु दुःखद हो सकती है, क्योंकि वे पयार्यमूढ होने से मृत्यु को सर्वनाश का हेतु मानते है, पर उन भेदविज्ञानियो को तो मृत्यु से भयभीत नही होना चाहिए, जिन्होने तत्त्वाभ्यास और वैराग्यजननी बारह भावनाओ के सतत चिन्तन-मनन से ससार, शरीर व भोगो की असारता, क्षणभगुरता एव आत्मा की अमरता का भलीभॉति अनुभव कर लिया है ।

जिनकी परिजन-पुरजनो के प्रति भी मोह-ममता नही रही है और देह के प्रति भी अपनत्व टूट चुका है, उन्हे तो मृत्यु के भय से भयभीत नही होना चाहिए ।"

मेरे इस समाधान से विवेकी ने भारी प्रसन्नता प्रगट की । •

# १२

वर्षाॠतु मे आवागमन व यातायात की असुविधा के कारण प्रायः सभी जगह धधा-व्यापार सहज ही कम हो जाता है । इन दिनो शादी-विवाह आदि सामाजिक उत्सव भी नही होते, इस कारण लेन-देन एव क्रय-विक्रय भी कम हो जाता है । कृषको की फसले भी खेतो मे खड़ी होती है, इन सब कारणो से कृषक वर्ग, मजदूर वर्ग एव व्यापारी वर्ग मे इन दिनो धर्म कार्य करने की प्रवृत्ति विशेष देखी जाती है । सभी धर्मो के धार्मिक पर्व भी प्रायः इन्ही दिनो अधिक मनाये जाते है ।

चातुर्मास के कारण साधु-सतो को भी चार माह तक एक ही स्थान पर ठहरना पडता है । इस कारण भी इन दिनो धार्मिक वातावरण बनने का सहज योग बन जाता है ।

कारण कुछ भी सही, पर गृहस्थो को कुछ धर्म-कर्म करने का कभी न कभी सुअवसर तो मिल ही जाता है । इसे भी गृहस्थो का सद्भाग्य ही समझना चाहिए , अन्यथा व्यापारी तो इतना व्यस्त व्यक्ति होता है कि वह न कभी चैन से पेट भर भोजन कर सकता है और न कभी नीद भर सो सकता है ।

जब भी कोई उससे धर्म-कर्म, पठन-पाठन या मनन-चितन करने की बात करे तो उसका एक ही उत्तर होता है - "अरे भाई, अभी तो हमे मरने की भी फुरसत नहीं है ।" पर मेरी समझ मे उनकी यह बात आज तक नही आई कि क्या मौत भी फुरसत वालो के पास ही आती है ?

काश ! उनकी यह बात यथार्थ होती तो बहुत अच्छा होता । देश के काम भी अधिक से अधिक निपटते और कोई मरता भी नही;

क्योंकि सभी अपने को अपने-अपने कामो में व्यस्त रखते; जब किसी को मरने की फुरसत ही नहीं मिलती तब भला कोई मरता ही क्यो।

सदासुखी व विवेकी का भी यह सौभाग्य ही था कि उस पहाड़ी क्षेत्र मे जहाँ वे रहते थे, वर्षाऋतु मे दो-तीन माह तक पानी कुछ अधिक ही बरसता था । इसकारण उन दिनो वहाँ कुछ दिनो तक पर्यटको का आवागमन पूरी तरह बद रहने से व्यापारियो को व्यापार से फुरसत ही फुरसत रहती थी। अतः उन्होंने यही दो माह का समय सपरिवार धर्म लाभ के लिए चुना ।

सपरिवार आने के कारण यद्यपि उन्होंने यहाँ केवल दो माह ठहरने का ही संकल्प किया था, पर इस दौरान उन्हे ऐसा लगा कि इस आशातीत धर्म लाभ को छोडकर, सतत प्रवाहित ज्ञानगगा की अमृतमय मधुर धारा को छोड कर फिर राग की आग मे जलने के लिए घर जाना ठीक नही है । ऐसे दुर्लभ सयोग भी तो सातिशय पुण्य के योग से ही मिलते हैं । इस धर्म लाभ को अभी तो किसी कीमत पर छोड़ना ही नही है । भविष्य मे भी वर्ष मे कम से कम दो तीन माह का समय अवश्य ही निकाला करेंगे ।"

तब से वे अपने सकल्प के अनुसार प्रतिवर्ष मेरे पास आते रहे और चार-चार माह रह कर तत्त्वाभ्यास करते रहे ।

इस बीच उन्होने मोक्षमार्ग प्रकाशक को तो आद्योपांत अनेक बार पढ़ा हीं; समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि अनेक छोटे-बडे ग्रंथो का भी उन्होने सूक्ष्मदृष्टि से स्वाध्याय किया ।

इनके सिवाय वे विविध कवियों की बारहभावनाओ का तथा वैराग्यभावना, छहढाला, कुन्दकुन्दशतक, शुद्धात्मशतक, जैनशतक और नाटकसमयसार का नियमित रूप से पारायण (पाठ) भी किया करते थे, इससे ये तो उन्हें कंठस्थ ही हो गये थे ।

जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धांत वस्तुस्वातंत्र्य, भेदविज्ञान, क्रमबद्धपर्याय, सर्वज्ञता, पुण्य-पाप, निमित्तोपादान, निश्चय-व्यवहार, अनेकांत-स्याद्वाद

आदि विषयों पर गंभीर चर्चा करके अपनी सम्यक् श्रद्धा को दृढ़ करके कर्त्तव्य के भार से निर्भार होकर निराकुल रहते और आत्मसम्मुख होने का अपूर्व पुरुषार्थ भी किया करते ।

उनका मानना व कहना था कि "यही सुखी होने का सच्चा उपाय है और यही जीवन जीने की सही कला है ।" जिसने इस विधि से जीवन जीना सीख लिया है, उसी का मरण समाधिपूर्वक हो सकता है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की पृष्ठभूमि कैसी होती है, इस पर न केवल उन्होंने चर्चा की, बल्कि अपने जीवन को वैसा ही जीने का प्रयत्न भी किया । चर्चा को चर्या मे बदलने का पुरुषार्थ भी किया । ऐसा करके उन्होने महसूस किया कि वस्तुतः जैनदर्शन और कुछ नहीं, मात्र सुखद जीवन जीने की अद्भुत कला है । "जो जैनदर्शन के अनुसार जीवन जीना सीख लेता है, वह वर्तमान में तो पूर्ण निराकुल, अत्यन्त शात और पूर्ण सुखी रहता ही है, उसका अनत भविष्य भी पूर्ण सुखमय, अतीन्द्रिय आनदमय हो जाता है ।"

चार माह तक सतत लाभ मिलने पर भी विवेकी व सदासुखी का मन अभी भी नही भरा था । तत्त्वज्ञान की तो प्यास ही कुछ ऐसी होती है, जो जल्दी नहीं बुझती । पर गृहस्थावस्था मे रहते हुए अपने घर-परिवार की भी तो अधिक उपेक्षा नही की जा सकती । तथा ये लोग अपने परिजन-पुरजनो को भी धार्मिक सस्कार देना चाहते थे, जो उचित भी था; क्योकि जिनको जो वस्तु अधिक प्रिय प्रतीत होती है, हितकर लगती है, वह अपने प्रियजनों को भी भरपूर बाँट देना चाहते हैं । अतः वे घर से पूर्णनिर्वृत्त होने पर भी कुछ समय अपने परिजन-पुरजनो के साथ रहकर उन्हें भी तत्त्वज्ञान का लाभ दिया करते थे ।

इस बार जब उन्होने घर जाने का कार्यक्रम बनाया तो मुझे यह विचार आया कि क्यों न इन्हें जाते-जाते एक बार पुनः जैनदर्शन के

निचोड़ के रूप मे सम्यग्दर्शन, सन्यास एव समाधि का सक्षिप्त साराश बता दिया जाय ।

एतदर्थ मैने एक सक्षिप्त भाषण तैयार किया । भाषण तैयार करते समय मुझे यह विचार भी आया । "पता नहीं इनका पुनः आना बने या न बने, इनसे मेरा मिलन हो या न हो, इस क्षणभगुर काया का क्या ठिकाना ? मै भी इस लायक रहूँ न रहूँ कि इनसे कुछ कह सकूँ । सभव है हम मे से किसी के शरीर की स्थिति ही ऐसी न रहे, जिससे पुनर्मिलन हो सके । अतः भविष्य की आशा मे वर्तमान को खोना कोई समझदारी की बात नही होगी।"

यह सोचकर मैने उनकी 'विदाई की बेला' पर एक दीक्षात भाषण देने की घोषणा कर दी ।

घोषणा करते तो कर दी, पर भाषण का विषय क्या हो ? उसका प्रस्तुतीकरण कैसे किया जाय ? मेरे लिए यह एक समस्या बन गई।

चार जने बैठ कर परस्पर चर्चा करना अलग बात है, और भाषण देना अलग । भाषण देना हर एक के वश की बात नहीं है । 'भाषण तो अपने विचारो की, अपने चिन्तन की एक कलात्मक अभिव्यक्ति है।' मच पर खडे होकर बिना सोचे-समझे जोशीली भाषा मे कुछ भी कह जाना भाषण नही है ।

अच्छे भाषण के लिए पूर्वाग्रह से रहित किसी निर्धारित विषय पर, गभीरतापूर्वक, सुविचारित, व्यवस्थित विचारो को विषय के अनुरूप भाषा देना अत्यावश्यक है ।

विषय के सही संप्रेषण के लिए भाषा का सरल, सुबोध, परिमार्जित और देश-काल के अनुरूप होना भी आवश्यक है ।"

मेरा सोचना था कि कितना ' । परिश्रम क्यो न करना पड़े पर श्रोताओ को पूरा-पूरा लाभ मिलना चाहिए । यह सोचकर मै लिखित भाषण बोलने की तैयारी मे जुट गया ।

मैंने सुन रखा था कि लेखको को जब तक फाड़ू रोग नहीं लगता, तब-तक वे सफल लेखक नहीं बन पाते । इस फाड़ू रोग की भी एक रोमाचक कहानी है — एक व्यक्ति लेखक बनने की धुन में रात मे दो-दो बजे तक लेख लिखता और प्रातः उठकर जब वह स्वस्थ चित मे — फ्रेस माइन्ड मे अपने ही लिखे लेखो को पढ़ता तो स्वय के लिखे लेख स्वय को ही पसद नहीं आते और वह उन्हें फाड़ कर फैंक देता ।

ऐसा करते हुए जब उसे कई दिन हो गये तो उसके माता-पिता को चिन्ता हुई कि इसे यह क्या हो गया है ? यह रोज देर रात तक जाग-जागकर इतने परिश्रम से तो लिखता है और सबेरे पढ़कर स्वय ही सब फाडकर फैंक देता है । इसे जरूर कोई मानसिक रोग हुआ है ।

वे घबराये और उसे एक मनोचिकित्सक के पास ले गये । उन्होने उसका हाल सुनाते हुए कहा — "डाक्टर साहब ! इसे 'फाड़ू रोग' हो गया है ।"

चिकित्सक उसके लक्षणो से सब कुछ समझ गया । उसने कहा— "भाई। वैसे तो यह रोग सभी उदीयमान लेखको को होता है और होना ही चाहिए, अन्यथा लेखक नही बना जा सकता । फिर भी यदि आपको इष्ट न हो तो इसकी रामवाण औषधि भी मेरे पास है ।

उसके माता-पिता ने कहा — "रोग तो कोई भी भला नही होता। आप तो इसका उपचार कर ही दीजिए ।"

चिकित्सक ने कहा — "ठीक है, आप लोग, इसे प्रतिदिन प्रातः शाम भैस का दूध पिलाया करो और भैंस का ही दहि खिलाया करो। सायंकाल भैस के दूध-घी से बने तथा नाना प्रकार के मधुर व्यजन भी खूब मना-मना कर खिलाया करो । इस तरह स्वादिष्ट गरिष्ठ भरपेट भोजन कराने से कुछ ही दिनो मे इसका यह रोग ठीक हो जायेगा।"

ऐसा करने से उसे शाम से ही गहरी नींद आने लगी और वह कुछ ही दिनों मे भैंस की भांति ही सुस्त व आलसी हो गया । इसे किसी भी काम को बार-बार करने मे आलस आने लगा । लेखक बनने का उत्साह तो ठंडा हो ही गया, नियमित स्वाध्याय व पठन-पाठन मे भी आलसी हो गया । अब तो उसे एक-एक पत्र लिखने मे भी आलस आने लगा । अब जब वह कुछ लिखता ही नही तो फाड़ता क्या ? इस तरह उसका 'फाड़ू' रोग ठीक हो गया ।"

फाड़ू रोग तो मुझे भी हुआ था, पर गनीमत यह रही, सौभाग्य यह रहा कि इसका उपचार कराने के लिए मै किसी चिकित्सक के पास नही गया । अन्यथा शायद मेरी भी वही स्थिति होती, जो इस कहानी के नायक की हुई।

मैने तो अपना वही पुराना रास्ता अपनाया । जब तक एक-एक पंक्ति पर पूर्ण सतोष नहीं होता, मै परिश्रम की परवाह किए बिना पूरे पन्ने के पन्ने फाड़ देता और पुनः लिखता । रात तो बहुत बीत गई, पर प्रयत्न करते-करते भाषण की एक अच्छी रूपरेखा तैयार हो गई और मै सुख की नीद सो गया । •

## १३

मै सुना करता था कि साहित्यकारों को एक-एक रचना में एक-एक पुत्र प्राप्ति जैसी सुखानुभूति होती है; पर इसका प्रत्यक्ष अनुभव मुझे उस रात हुआ जब मेरे दीक्षांत भाषण की एक सुन्दर रूपरेखा तैयार हो गई थी ।

यद्यपि उस रात मै बहुत देर से सो पाया था, पर अति उत्साह के कारण अगले दिन मै समय पर उठ गया और जल्दी-जल्दी तैयार होकर समय के पूर्व ही वहाँ पहुँच गया, जहाँ दीक्षांत भाषण का कार्यक्रम रखा गया था ।

सभा की प्राथमिक औपचारिकता के उपरान्त अपना भाषण प्रारंभ करते हुए मैंने कहा - "विदाई के क्षण भी बड़े विचित्र होते हैं । चाहे वे बेटी की विदाई के क्षण हो या धर्मात्माओ की चिरविदाई के; दोनो ही स्थितियों मे सभी को हर्ष-विषाद एवं सुख-दुःख की मिली-जुली ऐसी विचित्र अनुभूति होती है, जिसे वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता ।

एक ओर जहाँ विदाई के बाद चिरप्रतीक्षित दुर्लभ मनोरथो के साकार होने का हर्ष होता है, वहीं दूसरी ओर अपने सबधियो से सदा-सदा के लिए बिछुड़ने का असीम दुःख भी होता है ।

वह स्थिति तो और भी विचित्र हो जाती है, जब चिरविदाई के समय एक ओर तो मृत्यु को महोत्सव जैसा मनाने की बात कही जाती है और दूसरी ओर अनन्तकाल के लिए अपने इष्टजनों के वियोग की असह्य मानसिक वेदना का पहाड़ सामने खड़ा दिखाई देता है ।

यद्यपि इन परिस्थितियों में मरणासन्न साधकों के मन मे अन्तर्द्वन्द्व भी होता है पर वे उस अन्तर्द्वन्द्व को जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य मे किए

गये तत्त्वाभ्यास के सहारे उपशात कर लेते हैं, उस द्वन्द्व पर विजय प्राप्त कर लेते है । उस विजय के हर्ष मे ही उनकी वह मृत्यु महोत्सव बन जाती है।

वह जानता है कि मृत्यु तो सभी की एक न एक दिन होने वाली ही है। इस ध्रुवसत्य से तो कोई कभी इंकार ही नही कर सकता। जिन्होने जन्म लिया है, उन्हें आज नहीं तो कल — कभी न कभी तो मरना ही है और जिनका सयोग हुआ है, उनका वियोग भी अवश्य होना ही है । इस स्थिति को कोई भी टाल नहीं सकता । तो क्यो न हम वह क्षण आने के पूर्व ही दूसरो के प्रति अपने कर्त्तव्यो की तथा दूसरो पर अपने अधिकारो की समीक्षा करले, कर्त्तव्यो एव अधिकारो की यथार्थता को अच्छी तरह समझ ले; ताकि बाद मे किसी को कोई पछतावा न रहे।

आज तक हम मुख्यतः इन्हीं दो बातो से सर्वाधिक प्रभावित रहे है । हम अपने अज्ञान से अब तक ऐसा मान बैठे थे कि 'परिवार का पालन-पोषण करना, उन्हें पढ़ा-लिखा कर चतुर बनाना और उन सबके लिए जैसे भी हो वैसे धनार्जन करना हमारे प्रमुख कर्तव्य है । इसके बदले मे कुटुम्ब-परिवार हमारी भरपूर सेवा करे, हमारी आज्ञा मे रहे, जैसा हम कहे वही करे- यही हमारा उन पर अधिकार है।'

इन कर्तव्यो एव अधिकारो की अनधिकार चेष्टाओ से हम अब तक परेशान रहे है, पर जिनागम के अध्ययन-मनन एव अभ्यास से आज हमे यह पता चला है कि वस्तुत. सब अपने-अपने ही कर्ता-भोक्ता हैं, सब मात्र अपने ही भाग्यविधाता हैं ।

कोई भी किसी के सुख-दुःख का, जीवन-मरण का, उन्नति-अवनति का कर्त्ता-धर्त्ता नही है, कोई किसी का भला-बुरा कुछ भी नहीं कर सकता । अपने ये कर्तृत्व के विकल्प सब निरर्थक हैं । अतः अब हम घर-गृहस्थी के कर्त्तापने के भार से पूर्ण निर्भर होकर तथा दूसरो

के भला-बुरा करने की चिन्ता से मुक्त होकर, निश्चिन्त होकर क्यो न अपने स्वरूप मे जमने-रमने का प्रयत्न करें ?

सयोग न सुखद है न दुःखद । दुःखद तो केवल सयोगी भाव होते हैं, अतः सयोगों पर से दृष्टि हटा कर स्वभाव सन्मुख दृष्टि करना ही श्रेष्ठ है।

सम्यग्दृष्टि की दृष्टि मे मृत्यु इतनी गंभीर समस्या नही है; क्योंकि उसे मृत्यु मे अपना सर्वस्व नष्ट होता प्रतीत नही होता । वह यह बात अच्छी तरह जानता है कि मृत्यु केवल पुराना झोपड़ा छोडकर नये भवन मे निवास करने के समान स्थानान्तरण मात्र है, पुराना मैला-कुचैला वस्त्र उतार कर नया वस्त्र धारण करने के समान है ।

यदि वह नूतनगृह प्रवेश के उत्सव की तरह मृत्यु को महोत्सव के रूप मे मानता है तो भी कोई आश्चर्य की बात नही है और यदि बहुत समय से रह रहे झोपडे के प्रति सहज अनुराग वश थोडी खिन्नता भी दिखाई दे जाय तो यह भी असभव नही है । ऐसा होना भी स्वाभाविक ही है ।

मिथ्यादृष्टि की दृष्टि इससे विपरीत होती है । एक तो उसकी स्थिति उस दरिद्री के समान होती है, जिसने जीवन मे कुछ नही कमाया । अपने रहने के लिए भवन तो दूर, एक झोपड़ा भी नही बना पाया । यदि मकान मालिक ने उसे अपने मकान से निकाल दिया तो दर-दर की ठोकरे खाने के सिवाय अन्य कोई चारा नही रहेगा । ऐसी स्थिति मे उसका दुःखी होना स्वाभाविक ही है ।

जिसने जीवन भर पापाचरण ही किया हो, नरक-निगोद जाने की तैयारी ही की हो, उसका तो रहा-सहा पुण्य भी अब क्षीण हो रहा है, उस अज्ञानी और अभागे के दुःख को कौन दूर कर सकता है ? अब उसके मरण सुधरने का तो प्रश्न ही नही रहा, उसकी तो आगामी गति के अनुसार मति बिगडना ही है ।

इसप्रकार मृत्यु पर आँसू बहाने वाले मिथ्यादृष्टि एवं मृत्यु को महोत्सव मे बदल देने वाले सम्यग्दृष्टि की स्थिति को तथा उनकी वर्तमान भूमिका को स्पष्ट करते हुए मैंने अपने उस दीक्षांत भाषण मे आगे कहा –

"सम्यग्दृष्टि भगवान आत्मा को ज्ञानज्योतिस्वरूप चैतन्य देव के रूप मे देखता है । वह अपने स्वरूप को पर द्रव्यों से पृथक, रागादि से रहित, शाश्वत ज्ञाता-द्रष्टा ही जानता है, मानता है तथा मृत्यु को केवल देह से देहान्तर होने रूप क्रिया मानता है । इस कारण वह मृत्यु से नहीं डरता । जबकि मिथ्यादृष्टि को अनादि से देह में अपनापन होने से उसे मृत्यु मे अपना सर्वस्व लुटा-लुटा-सा लगता है, सर्वस्व समाप्त हुआ सा प्रतीत होता है, इस कारण उसका दुःखी होना, भयभीत होना भी स्वाभाविक ही है ।"

सम्यग्दृष्टि तो समय-समय पर शरीर के सबध मे यह विचार करके विरक्त रहता है कि – "आज तक इतने वर्षों से मेरे सयोग मे रह रहे इस शरीर के अनन्त पुद्गल परमाणुओ का मेरे अनुकूल परिणमन हो कैसे रहा है ? इसमे यदि किसी को आश्चर्य हो तो हो, इनके विघटने मे क्या आश्चर्य !"

"नौ दरवाजों का पिंजरा, तामें सुआ समाय ।
उडवे को अचरज नहीं, अचरज रहवे माहि ॥"

अतः उसे मृत्युभय नही होता ।

ज्ञानी विचार करता है कि – "जिसप्रकार जिस मिट्टी के साचे मे शुद्ध चादी की मूर्ति बनाई जाती है, ढाली जाती है, वह साचा टूटने पर चादी की मूर्ति नहीं टूटती, वैसे ही शरीररूपी सांचे मे आत्मा की मूर्ति विराजती है, जो कभी नहीं टूटती-फूटती ।"

सम्यग्दृष्टि को देह मे आत्मबुद्धि नहीं रहती । वह देह की नश्वरता, क्षण-भगुरता से भली भाति परिचित होता ही है, उसकी जड़ता-अचेतनता से भी परिचित हो जाता है ।

पर व पर्याय से भेदज्ञान होने से उसे अपने आत्मा मे ही अपनापन रहता है । अतः श्रद्धा व विवेक के स्तर पर उसे मृत्युभय नहीं होता।

सभव है, कोई सम्यग्दृष्टि भी आचरण के स्तर पर मृत्यु को महोत्सव की तरह नही मना पाये । उसे भी बाहर से मिथ्यादृष्टि की तरह आँसू बहाते देखा जा सकता है । पुराणो में भी ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। रामचन्द्रजी क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, फिर भी छह महीने तक लक्ष्मण के शव को कधे पर ढोते फिरे ।

कविवर बनारसीदास की मरणासन्न विपन्न अवस्था देखकर लोगो ने यहाँ तक कहना प्रारंभ कर दिया था की - "पता नहीं इनके प्राण किस मोह-माया में अटके हैं ?"

लोगो की इस टीका-टिप्पणी को सुनकर उन्होंने संकेत द्वारा स्लेटपट्टी मांगी और उस पर लिखा :

ज्ञान कुतक्का हाथ, मारि अरि मोहना ।
प्रगट्यो रूप स्वरूप अनंत सु सोहना ॥
जा परजे को अन्त सत्यकरि जानना ।
चले बनारसी दास, फेर नहिं आवना ॥

मृत्यु के समय ज्ञानी की आँखो मे आसू देखकर ही उसे अज्ञानी नही मान लेना चाहिए; क्योंकि उसके अभी केवल अनन्तानुबधी क्रोधादि कषायों का ही तो अभाव हुआ है । अप्रत्याख्यानादि तीन कषायो की चौकडी तो अभी भी उसके विद्यमान है, अतः श्रद्धा तो ज्ञानी की सिद्धो के समान निर्मल हो गई है, पर चारित्रगुण मे अभी कमजोरी है, इस कारण वियोगजनित क्षणिक दुःख का वेग आ जाना अस्वाभाविक नहीं है । अपनी श्रद्धा को मजबूत करने के लिए वह बारम्बार अपने मन को समझाते हुए कहता है –

हमको कछु भय ना रे !
जाकरि जैसे जाहि समय में जो होतब जा द्वार,
सो बनि है, टरि है कछु नाहिं, कर लीनो निरधार ।
हमको कछु भय ना रे ! जान लियो संसार ॥

जो कार्य जिसके द्वारा, जिस विधि से, जिस समय, जिन कारणो के माध्यम से होना है, वह कार्य उसी के द्वारा, उसी विधि से, उसी समय, उन्ही कारणो के माध्यम से होता ही है; उसे किसी भी प्रकार टाला नही जा सकता ।

आचार्यो के कथनो को स्मरण करते हुए वह अपने मन को समझाता है। हे मन । तू अन्य विकल्प छोड और श्री गुरुओ के उन कथनो पर विचार कर, जिसमे वस्तु के स्वतत्र परिणमन की स्पष्ट उद्घोषणा की गई है।

स्वामी कार्तिकेय कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे कहते है –

"ज जस्स जम्मि देसे, जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णाद जिणेण णियद, जम्म वा अहव मरण वा ॥
त तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कदि वारेदु इदो वा तह जिणिन्दो वा ॥

जिस जीव का जिस देश मे, जिस काल मे, जिस विधान से, जो जन्म-मरण जिनदेव ने नियतरूप से जाना है, उस जीव का उसी देश मे, उसी काल मे, उसी विधान से वह अवश्य होता है, उसे इद्र अथवा जिनेन्द्र टालने मे समर्थ नही है, अन्य की तो बात ही क्या है ।

ज्ञानी विचार करता है कि तीन लोक मे जितने पदार्थ है, वे सब अपने-अपने स्वभाव से परिणमन करते है, कोई किसी का कर्ता-भोक्ता नही है । जब यह शरीर स्वय ही उत्पन्न होता है और स्वय ही बिछुडता है, स्वय ही गलता है, स्वय ही बढता है तो फिर मै इस शरीर का कर्ता-भोक्ता कैसे ?

इस स्थिति मे मेरे रखने से वह शरीर कैसे रहे ? वस्तुत मै इसमे कुछ भी फेर-बदल या परिवर्तन नही कर सकता ।

मै तो मात्र अपने ज्ञायकस्वभाव का ही कर्ता-भोक्ता हूँ । उसी का वेदन व अनुभव करता हूँ, कर सकता हूँ । इस शरीर के नष्ट हो जाने से मेरा कुछ भी बिगाड नही और इसके रहने से कुछ भी लाभ नही ।

वैसे भी यह देह अत्यन्त अपवित्र है, अस्थिर है, घिनावनी है, इसमे रंच-मात्र भी सार नहीं है । चमड़े में लिपटी सुन्दर दीखने वाली यह देह सात कुधातुओ से भरी हुई मल-मूत्र की मूर्ति ही है । इसके नव द्वारो से दिन-रात ऐसा मैल बहता रहता है, जिसके नाम लेने से ही घृणा उत्पन्न होती है, जिसे अनेक व्याधियाँ (बीमारियाँ) निरन्तर लगी रहती है । उस देह मे रहकर आज तक कौन सुखी हुआ है ?

इसका स्वरूप रमने योग्य नही है, अपितु छोड़ने योग्य है । अतः हे भव्य प्राणियो ! इस मानव तन को पाकर महातप करो, क्योंकि इस देह पाने का सार तो आत्महित कर लेने मे ही है ।

इस तरह ससार, शरीर और आत्मा के स्वरूप के यथार्थ ज्ञान हो जाने से भेद-विज्ञानी सम्यग्दृष्टि मृत्यु से नही डरता ।

जिसे जगत हौवा समझ बैठा है, वह मृत्यु ज्ञानी को मित्र के समान हितकारी प्रतीत होती है । क्यो न हो ? होना ही जाहिए ! क्योंकि वह जानता है कि यह मृत्यु ही मुझे इस घृणित जीर्ण-शीर्ण और दुःख देह-रूप कारागृह से मुक्त कराती है ।

जिस देह को अज्ञानी अपना जानकर, अपना मानकर उसमे रमा रहता है; उस देह के सबध मे यदि जरा भी गहराई से विचार करें तो ज्ञात हो जायेगा कि इसमे क्या-क्या गदगी भरी है ? इसकी असलियत क्या है ? यह काया कितनी क्षण भगुर व नाशवान है ?

निम्नाकित पक्तियो से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती हैः-

**जिस देह को निज जानकर, नित रम रहा जिस देह में ।**
**जिस देह को निज मानकर, रच-पच रहा जिस देह में ॥**
**जिस देह में अनुराग है, एकत्व है जिस देह में ।**
**क्षण एक भी सोचा कभी क्या-क्या भरा उस देह में ॥**

और भी देखिए क्या-क्या कहा है इस देह के बारे मे हमारे मनीषियो ने-

**देह अपावन अथिर घिनावनी, यामें सार न कोई ।**
**सागर के जल सों शुचि कीजै, तो भी शुद्ध न होई ॥**

**सात कुधातमयी मल मूरत, चाम लपेटी सोहै ।**
**अन्तर देखते या सम जग में और अपावन को है ॥**
**नवमल द्वारा बहे निश-वासर, नाम लिए घिन आवे ।**
**व्याधि-उपाधि अनेक जहँ-तहँ कौन सुधी सुख पावे ॥**
**राचनजोग स्वरूप न याको, विचरन जोग सही है ।**
**यह तन पाय महातप कीजै, या में सार यही है ॥**

इस प्रकार वस्तुस्वरूप के बारम्बार चिन्तन-मनन करते रहने से ज्ञानी की श्रद्धा तो सुदृढ़ होती ही है, धीरे-धीरे आचरण भी श्रद्धा के ही अनुरूप होने लगता है, फलस्वरूप उसका मरण भी सहज ही समाधिमय हो जाता है ।

सदासुखी ने जिज्ञासा प्रगट की - क्या सब सहज ही होता है ? क्या मरणासन्न व्यक्ति को सल्लेखना धारण करने की जरूरत नहीं है? शास्त्रो मे तो सल्लेखना लेने की बहुत विस्तार से चर्चा की गई है । क्या सल्लेखना और समाधिमरण कोई अलग-अलग है ?

सदासुखी के एक साथ प्रश्न सुनकर मुझे मन ही मन प्रसन्नता हुई, पर उन प्रश्नो के सही समाधान के लिए विस्तृत चर्चा अपेक्षित थी, अतः मैने कहा भाई ! तुम्हे इन प्रश्नो को समझने के लिए कम से कम एक दिन और रुकना पडेगा ।

सदासुखी और विवेकी ने सहर्ष जाने का कार्यक्रम स्थगित करके दो दिन और रुकने का निश्चय कर लिया । सो ठीक ही है, जिसे सत्य को समझने की लगन लग जाती है, उसके लिए एक दिन की तो बात ही क्या है, वह तो सर्वस्व समर्पण करने के लिए सदैव तत्पर रहता है । •

# १४

"निर्भय व निर्लोभी हुए बिना सत्य कहा नही जा सकता और सपूर्ण समर्पण के बिना सत्य सुना व समझा नहीं जा सकता।" — इस तथ्य से सुपरिचित सदासुखी और विवेकी अगले दिन समय से पांच मिनट पहले ही मेरे पास आ गये और अत्यन्त विनम्र भाव से पूछे गये प्रश्नो के उत्तर की चातक की भाँति प्रतीक्षा करने लगे ।

समाधि के स्वरूप एव उसके उपायो के सबध मे तो पर्याप्त चर्चा हो ही चुकी थी, पर आगम मे आये सल्लेखना के स्वरूप की चर्चा अभी शेष थी, इस कारण इस सबध मे उनकी जिज्ञासा स्वाभाविक थी।

मैने सल्लेखना के सबध मे आगम के आधार पर उन्हें सरल शब्दो मे समझाने का प्रयत्न किया ।

मैने कहा - "सल्लेखना जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है, जो दो शब्दो से मिलकर बना है - सत् + लेखन = सल्लेखना । जिसका अर्थ होता है सम्यक् प्रकार से काय और कषाय को कृश करना ।[1]

जब उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा या असाध्य रोग आदि कोई ऐसी अनिवार्य परिस्थिति उत्पन्न हो जावे, जिसके कारण धर्म की साधना संभव न रहे, तो वस्तुस्वरूप की समझ एवं आत्मा के आश्रय से कषायों को कृश करते हुए अनशनादितप द्वारा काय को कृश करके धर्म रक्षार्थ मरण को वरण करने का नाम सल्लेखना है । इसे मृत्यु महोत्सव भी कहते हैं ।

धर्म आराधक उपर्युक्त परिस्थिति मे प्रीतिपूर्वक प्रसन्नचित्त से बाह्य मे शरीरादि सयोगो को एव अतरंग मे राग-द्वेष आदि कषाय भावो को

---

1 'सम्यक्' काय कषाय लेखना सल्लेखना कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणा च कषायाणां तत्कारण हापन क्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना" - सर्वार्थसिद्धी ।7।22

क्रमश· कम करते हुए परिणामो मे शुद्धि की वृद्धि के साथ शरीर का परित्याग करता है । बस यही सक्षेप मे सल्लेखना का स्वरूप है ।

समाधि की व्याख्या करते हुए शास्त्रो मे कहा गया है कि **'समरसी भाव:-समाधि:, समरसी भावों का नाम समाधि है । उत्तम परिणामों में चित्त को स्थिर रखना या पंचपरमेष्ठी को स्मरण करना समाधि है।**[2]

समाधि मे त्रिगुप्ति की प्रधानता होने से समस्त विकल्पो का नाश होना मुख्य है । मुनिराजो के समस्त शुभाशुभ विकल्प छूट जाते है, इसलिए वे परमसमाधि के धारक होते है ।

**वचनोच्चारण की क्रिया परित्याग कर संयम, नियम एवं तपपूर्वक निज शुद्धात्मस्वरूप का ध्यान परमसमाधि है ।**[1]

सल्लेखना मे जहाँ काय व कषाय को कृश करना मुख्य है, वही समाधि मे निज शुद्धात्मस्वरूप का ध्यान प्रमुख है ।

वैसे तो सल्लेखना व समाधि शब्द पर्यायवाची शब्द के रूप मे भी प्रयुक्त हुए है, फिर भी सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाधि से ही सल्लेखना सफल हो सकती है । जबतक जीवन मे पर के प्रति समरसी भाव या साम्यभाव नही होगा तबतक कषायो का कृश कर पाना सभव ही नही है और कषाये कृश हुए बिना शरीर को कृश करने का कुछ भी अर्थ नही है । कषायो के साथ काय का कृश करना ही सल्लेखना है । केवल काय को कृश करना तो आत्मघात है, सल्लेखना नही ।"

इसप्रकार सल्लेखना व समाधि का सक्षेप मे अन्तर स्पष्ट करते हुए मैने उनसे सल्लेखना के भेद-प्रभेदो की भी सक्षेप मे चर्चा की, जो इस प्रकार है·- सल्लेखना के कई प्रकार से भेद किए जा सकते है । जैसे कि -

1 महापुरण 21 - 226

2 परमात्मप्रकाश 190

**नित्यमरण व तद्भवमरण की अपेक्षा नित्यमरण सल्लेखना एव तद्भवमरण सल्लेखना ये दो भेद हैं ।**

(i) **नित्यमरण** - प्रतिसमय आयुकर्म के क्षय के साथ द्रव्य-सल्लेखनापूर्वक विकारी परिणाम विहीन शुद्ध परिणमन नित्य मरण सल्लेखना है ।

(ii) **तद्भव मरण** - भुज्यमान (वर्तमान) आयु के अन्त मे शरीर और आहार आदि के प्रति निर्ममत्व होकर साम्यभाव से शरीर त्यागना तद्भव मरण सल्लेखना है ।

विवेकी ने पूछा - "ये तो ठीक, पर शास्त्रो मे कायसल्लेखना, कषाय-सल्लेखना, भक्त प्रत्याख्यान आदि नाम भी तो सल्लेखना के प्रकरण मे आते हैं। ये क्या है ? इनका क्या स्वरूप है ? तथा इनके धारण की विधि क्या है ? यह भी हम जानना चाहते है , कृपया इनका भी स्पष्टीकरण कर दीजिए ?

मैने कहा :- "काय को कृश करना, सहनशील बनाना कायसल्लेखना है।" यदि काय को पुष्ट किया, आरामतलब बनाया तो इद्रियो के विषयो मे अधिक प्रवृत्ति होती है, आत्मा मलिन होता है, काम वासना बढ़ती है, निद्रा प्रमाद आलस्य आता है । वात-पित्त-कफ आदि रोग हो जाते है । अतः समाधिधारक को तपश्चरण द्वारा काया को कृश करना आवश्यक है ।

जैसी आयु की स्थिति जाने, तदनुसार देह से ममत्व कम करते हुए आहार के आस्वाद से विरक्त हो, रसो की गृद्धता छोडकर नीरस आहार लेना प्रारभ करे । एतदर्थ कभी उपवास, कभी एकाशन, कभी नीरस आहार, कभी अल्प आहार (ऊनोदर) - इस तरह क्रम-क्रम से अपनी शक्ति प्रमाण आहार को कम करते हुए दूध पर आवे, दूध से छाछ, छाछ से गर्म पानी तत्पश्चात पानी का भी त्याग करके देह का त्याग करना काय-सल्लेखना है ।

भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखना मे भी इसी प्रकार भोजन का त्याग होता है। भोजन के त्याग की मुख्यता से इसे ही भक्तप्रत्याख्यान कहते हैं। इसका उत्कृष्ट काल बारह वर्ष व जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है ।

राग-द्वेष मोहादि भावो को कृश करना कषायसल्लेखना हैं । कषायसल्लेखना बिना काय सल्लेखना निरर्थक है । जो राग-द्वेष व विषय-कषाय जीत सकेगा, उसी के समाधिमरण सभव है ।

आगम मे मरण या समाधिमरण के उल्लेख अनेक अपेक्षाओ से हुए है। पान्च प्रकार के मरण की अपनी एक अपेक्षा है, इनका सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है :-

(1) पण्डित पण्डित मरण :- केवली भगवान के देह विसर्जन को पण्डित-पण्डित मरण कहते है । इस मरण के बाद जीव पुनः जन्म धारण नहीं करता।

(2) पण्डित मरण :- यह मरण छठवे गुणस्थानवर्ती मुनियो के होता है । एक बार ऐसा मरण होने पर दो-तीन भव मे ही मुक्ति हो जाती है।

(3) बाल पण्डित मरण :- यह मरण देशसयमी के होता है । इस मरण के होने पर सोलहवे स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है ।

(4) बाल मरण :- यह मरण चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि के होता है । इस मरण से प्रायः स्वर्ग की प्राप्ति होती है ।

(5) बाल-बाल मरण :- यह मरण मिथ्यादृष्टि के होता है । यह मरण करने वाले अपनी लेश्या व कषाय के अनुसार चारो गतियो के पात्र हो सकते है ।

यद्यपि पाँचवे बाल-बाल मरण को छोड़कर उपर्युक्त चारो प्रकार के मरण समाधिपूर्वक ही होते हैं, पर स्वरूप की स्थिरता और परिणामो की विशुद्धता अपनी-अपनी योग्यतानुसार अलग-अलग होती है ।"

सदासुखी और विवेकी मेरे द्वारा इतनी विस्तृत जानकारी पाकर भारी प्रसन्न हुए । उन्होने कृतज्ञता प्रगट करते हुए अंतिम प्रश्न पूछा -

"समाधिधारक व्यक्तियों को किस प्रकार संबोधित किया जाये, जिससे परिणाम समाधिमय हो सकें? तथा वेदना से उनका चित्त विभक्त न हो उपयोग की एकाग्रता खण्डित न हो और पीड़ा चिन्तन में उपयोग न जाय।"

उनकी इस परोपकारी मंगलमय भावना का आदर करते हुए मैने कहा- "यद्यपि दूसरों को समझाने की आपकी भावना उत्तम है, पर वस्तुतः दूसरों को समझाना सहज कार्य नही है; क्योंकि समझ बाहर से नहीं, अदर से, अन्तर्मन से आती है। फिर भी करुणावश या धर्मस्नेह वश यदि कभी विकल्प आवे तो साधक की स्थिति देखकर जैसी परिस्थिति हो, जिन कारणो से वह स्वरूप से विचलित हो रहा हो, उनकी सार्थकता व निरर्थकता का ज्ञान कराया जाना चाहिए।

उदाहरणार्थ - कोई व्यक्ति असाध्य रोग और उससे उत्पन्न वेदना से पीड़ित हो, पीड़ाचिन्तन आर्तध्यान कर रहा हो, अथवा भूख-प्यास व इंद्रियो के विषयो की वाछा से खेद-खिन्न हो रहा हो, सक्लेश कर रहा हो या स्त्री-पुत्रादि के प्रति विशेष अनुरागी होकर इष्ट वियोगज आर्तध्यान कर रहा हो तो उससे कहें कि-

"हे भव्य आत्मन्! जो दुःख तुम्हें अभी है इससे भी अनन्त गुणे दुःख तुम इस जगत में अनन्तबार जन्म-मरण करके भोग चुके हो, फिर तुम्हारे आत्मा का क्या बिगडा? कुछ भी तो नहीं बिगडा। अतः अब इस थोडे से दुःख से क्या घबराना?

देखो, तुम्हारा यह पीड़ाचिन्तन आर्तध्यान फिर नये दुःख के बीज बो रहा है। अतः इस पीड़ा पर से अपना ध्यान हटाकर आत्मा पर केन्द्रित करो, जिससे पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा तो होगी ही, नवीन कर्मों का बध भी नहीं होगा।

जो असाता कर्म उदय में आया है, उसे सहना तो पड़ेगा ही। यदि समतापूर्वक, साम्यभावों से सह लोगे तथा तत्त्वज्ञान के बल

**पर संक्लेश परिणामों से बचे रहोगे और आत्मा की आराधना में लगे रहोगे तो दुःख के कारणभूत सभी संचितकर्म क्षीण हो जायेंगे ।**

तुम चाहे निर्भय रहो या भयभीत, रोगो का उपचार करो या न करो, जो प्रबलकर्म उदय मे आया है, वह तो फल दिए बिना जायेगा नही । रोगोपचार भी कर्म के मद उदय मे ही अपना कार्य करेगा। जब तक असाता कर्म का प्रबल उदय रहता है, तब तक कोई भी औषधि निमित्त रूप से भी कार्यकारी नही होती । अन्यथा बडे-बड़े वैद्य, डॉक्टर तथा राजा-महाराजा तो कभी बीमार ही नही पड़ते, क्योंकि उनके पास उपचार के साधनो की क्या कमी ? अतः स्पष्ट है कि होनहार के आगे किसी का भी वश नही चलता ।

ऐसा मानकर समताभाव से उस दुःख के भी ज्ञाता-दृष्टा रहना योग्य है। ऐसा करने से ही व्यक्ति अपने मरण को समाधिमरण के रूप मे परिणत कर सकते है ।

यदि असह्य वेदना हो रही हो और उपयोग आत्मा मे न लगता हो तो उस समय 'ससार, शरीर व भोगो से विरक्त, स्वरूपसाधक, उपसर्गजयी गजकुमार, सुकौशल एव सुकुमाल जैसे सुकुमार मुनिराजो द्वारा कठोर साधना करने एव उनमे असह्य वेदना को सहने की सामर्थ्य कहाँ से, कैसे आ गई ?' इसका विचार करो और सोचो कि इनकी तुलना मे हमे तो कुछ भी कष्ट नही है ।"

ऐसा सोचने, विचार करने से हममे भी भेदविज्ञान के बल से वैसा ही साहस व सामर्थ्य प्रगट होने लगेगे, जिससे कठिनतम प्रतिकूल परिस्थितियो का सामना करने की शक्ति हममे अवश्य प्रगट होगी ।"

मेरे विचार से सदासुखी एव विवेकी आश्वस्त तो हुए, पर अब उनके मन मे उन उपसर्गजयी सतो के जीवनदर्शन को जानने की उत्कृष्ट अभिलाषा जागृत हो गई । एतदर्थ उन्होने अपने घर जाने के कार्यक्रम को और एक सप्ताह के लिए स्थगित कर दिया ।

मैने भी उन्हें कतिपय उपसर्गजयी समाधिधारक महान आत्माओं के प्रेरणादायक जीवन-दर्शन कराने का निश्चय कर लिया । •

# १५

कोई कितने ही प्रयत्न क्यो न करे, पर होनहार को कोई टाल नहीं सकता। जो होना है वह तो होकर ही रहता है ।

'द्वारिका द्वीपायन मुनि के निमित्त से जलकर भस्म हो जायेगी', इस भविष्यवाणी को सुनकर द्वीपायन बारह वर्ष के लिए द्वारिका छोडकर चले गये, उन्होने सोचा - 'न रहेगा बास न बजेगी बासुरी', फिर भी क्या वे उसे जलने से रोक पाये ? नही, नहीं रोक पाये । द्वारिका जली और द्वीपायन मुनि के निमित्त से ही जली ।

सुकुमाल को वैराग्य न हो जाए एतदर्थ उसकी माँ सुभद्रा ने क्या कम कोशिशे की ? लाखो-लाख प्रयत्न किए । न केवल उसे वैराग्य के वातावरण से बचाया, साधु समागम से दूर रखा, साथ ही उसे ससार मे उलझाये रखने के लिए भी राग-रग एव भोगमय वातावरण बनाने के भरपूर प्रयत्न किए । सभी प्रकार के सुखद सयोग मिलाये ।

इसके लिए सुभद्रा ने अपने बेटे की एक-दो नहीं बत्तीस-बत्तीस शादियाँ की और एक से बढकर एक अतिसुन्दर सर्वगुण सपन्न ऐसी पतिसेवापरायण बत्तीस पत्नियाँ सुकुमाल की सेवा मे खड़ी कर दी, जो अपने पति की सेवा-शुश्रूषा मे सतत सावधान रहतीं । इसतरह ससार मे जो भी सुख सभव थे, सुभद्रा ने सुकुमाल के लिए वे सब जुटाये, सभी भोगोपभोग सामग्री जुटाकर उसे भोगो मे आकठ निमग्न कर दिया । पर क्या इससे सुभद्रा का चाहा हो पाया ? नहीं, अन्ततोगत्वा हुआ वही, जो होना था ।

भविष्यवाणी के अनुसार सुभद्रा के पति सेठ सुरेन्द्रदत्त अपने पुत्र सुकुमाल का मुख देखते ही संयासी होकर वनवासी हो गये तो सुभद्रा को आशका हुई कि पिता की तरह उसका पुत्र भी कहीं साधु न बन

जाय ? वह नही चाहती थी कि मेरा बेटा भी साधु बने । जबकि उसी भविष्यवाणी के अनुसार मुनि यशोभद्र की वाणी सुनते ही सुकुमाल का साधु हो जाना भी निश्चित था, पर पुत्रव्यामोह मे उसकी माँ सुभद्रा को उस भविष्यवाणी पर पूरा विश्वास नही हो पा रहा था । वह सशय के झूले मे झूल रही थी । इस कारण वह अपने इकलौते पुत्र सुकुमाल के प्रति और भी अधिक सशकित हो उठी थी । उसे डर था कि कहीं पिता की परछायी पुत्र पर भी न पड जाये और वह भी साधु बनकर कही उन्ही की राह पर न चला जाये ? उसके बारे मे की गई भविष्यवाणी भी सही न हो जाये ?

सुभद्रा का सोचना ठीक ही था, उसकी चिन्ता भी स्वाभाविक ही थी, क्योंकि दूध का जला छाछ को भी फूक-फूक कर पीता है । अतः उसने सुकुमाल को साधु-सतो के प्रभाव से बचाये रखने के लिए भी अनेक उपाय किए।

अपने सभी पहरेदारो को पूर्ण सावधान करते हुए कठोर आदेश दिए — "ध्यान रहे, किसी भी साधु का इस महल के आस-पास आवागमन न हो।" स्वय ने भी साधुओ को आहार के लिए पडगाहन करना, आमत्रित करना सर्वथा बद कर दिया । दूर-दूर तक महल के चारो ओर भी कडा पहरा लगा दिया, ताकि कोई साधु उस मुहल्ले मे ही न आ सके।

पर होनहार तो कुछ और ही थी, तदनुसार सारे कारण-कलाप मिलते चले गये । सुभद्रा के द्वारा की गई इस कार्यवाही के पहले से ही उसी के सगे भाई मुनिराज यशोभद्र उसके महल की सीमा से थोडी दूरी पर एक उपवन मे ठहरे हुए थे । तथा उन्होने वहीं पर अपना चातुर्मास भी स्थापित कर लिया था । सुभद्रा के न चाहते हुए भी यह सब उसके अनजाने मे सहज हो गया था ।

जब सुभद्रा को यह ध्यान आया कि अरे ! मुनिराज यशोभद्र का चौमासा तो इसी नगर में हो रहा है, और वह भी महल के पीछे के उपवन मे ही । इससे वह घबड़ा गई, चिन्तित हो उठी और दौड़ी-दौड़ी

उनके पास पहुँची । मुनिराज की वंदना कर नारी की मर्यादा के अनुसार उनसे सात हाथ दूर बैठ गई। जैसे ही मुनिराज की प्रश्नसूचक दृष्टि उसकी ओर मुड़ी तो उसने कहा - स्वामिन् ! आप तो स्वय निमित्तज्ञानी हैं, भविष्यद्रष्टा हैं, और माँ की ममता को भी आप अच्छी तरह जानते हैं । कहीं ऐसा न हो कि मै पति की तरह पुत्र को भी खो बैठूँ ?

मेरे पतिदेव सेठ सुरेन्द्रदत्त तो संन्यासी बनकर वनवासी हो ही गये हैं । उनके वियोग का मुझे अपार दुःख है, पर पुत्रानुराग वश पुत्र के सहारे पतिदेव के वियोगजनित असह्य दुःख को तो मैंने जैसे-तैसे सह लिया, परन्तु पुत्र के वियोग का दुःख मे न सह सकूँगी । अतः आप मुझ दुःखिनी पर इतनी कृपा अवश्य करे कि आपके उपदेश या श्लोक पाठ आदि की आवाज मेरे महल तक न पहुँचे ।

निमित्त ज्ञानियो के कथनानुसार जिस दिन मेरे पुत्र के कान में किसी भी साधु के वचन पड़ जायेगे, उसी दिन वह विरागी होकर वनवासी बन जायेगा ।

हे स्वामी । आप भी अपने दिव्यज्ञान मे यह अच्छी तरह जानते है कि मेरा पुत्र अत्यन्त सुकुमार है । वह रत्नो की ज्योति मे तो रहता है, कमल पुष्पो से सुगधित तंदुलों का सरस भोजन करता है, मखमल पर चलता-फिरता है, उसे सूर्य का प्रकाश सुहाता नहीं, रूखा-सूखा भोजन भाता नही, राई के दाने जैसे सूक्ष्म रजकण भी उसके चरणो मे चुभते हैं । भला ऐसा सुकुमार बालक वनवासी होकर साधु-जीवन की कठोर साधना कैसे कर पायेगा ? नगे पाँव कटकाकीर्ण ऊबड़-खाबड़ मार्गों पर कैसे गमन कर सकेगा ? सर्दी, गर्मी एव भूख-प्यास की असह्य वेदना कैसे सहेगा ? भयकर उपसर्गों को कैसे झेल सकेगा ? खून के प्यासे डांस-मच्छर और मासभक्षी हिंसक पशुओं के प्राणलेवा उपद्रवों का सामना कैसे कर सकेगा ? और मैं भी उसके वियोगजनित दुःख को सहने की शक्ति कहाँ से लाऊगी ?

हे स्वामिन् ! मै उसके मोह मे पागल हो जाऊँगी । मुझमें उसके वियोग को सहने की शक्ति नही है । अतः मेरी यही एकमात्र विनम्र

प्रार्थना है कि कृपया आप अत्यन्त मदस्वर मे पठन-पाठन एव उपदेश करें ताकि आपकी आवाज उसके कानो तक न पहुचे ।

मुनिराज यशोभद्र को सुभद्रा के विचित्र पुत्रव्यामोह पर एव संसारी प्राणियो की कारुणिक दशा पर मन ही मन हंसी भी आई और करुणाभाव के कारण दुःख भी हुआ ।

वे उसे कुछ आश्वासन दे अथवा समझाये - ऐसी स्थिति मे नही थे, क्योकि उन्हें अपने निमित्तज्ञान मे स्पष्ट प्रतिभासित हो रहा था कि अब सुकुमार की आयु अत्यल्प रह गई है । और उसे अल्पकाल मे ही मेरे ही निमित्त से वैराग्य होनेवाला है तथा उसे आत्मसाधना का अपूर्व पुरुषार्थ करना है । साथ ही उसे अपने दुहरे व्यक्तित्व का परिचय देकर इतिहास मे अपना नाम भी अमर करना है, पुराण पुरुष बनना है, अत. वे चुप रहे ।

महान आत्माओ के विषय मे यह उक्ति प्रसिद्ध है कि -

'वज्रादपि कठोरानि, मृदूनि कुसुमादपि'

वे जहाँ पुष्प के समान कोमल होते है, वही वज्र के समान कठोर भी होते है ।

सुकुमाल की भी यही स्थिति थी । वे बाहर से जितने सुकुमार थे, अदर से उतने ही कठोर भी थे, जैसा कि उनके अतिम जीवन से स्पष्ट हो चुका है । पर मोही प्राणियो की समझ मे यह बात नही आ सकती, अतः यशोभद्र मुनिराज ने सुभद्रा से कुछ नहीं कहा ।

अपनी प्रार्थना के उत्तर की प्रतीक्षा करते-करते जब सुभद्रा निराश हो गई तो उसका शकालु मन और अधिक सशकित व खेद-खिन्न हो गया । घर आते ही उसने अपने पहरो की व्यवस्था और भी अधिक सुदृढ़ कर दी ।

पर होनहार को कौन टाल सकता था ? जब जो होना होता है, वह तो होकर ही रहता है । सारे समवाय या कारणकलाप वैसे ही मिलते चले जाते है।

साधारण मनुष्य तो क्या, असीम शक्ति संपन्न इंद्र एव अनंतबल के धनी जिनेन्द्र भी उसमे कुछ फेरफार नहीं कर सकते ।

शारीरिक दृष्टि से अत्यन्त सुकुमार होते हुए भी सेठ पुत्र सुकुमाल मे मनोबल एव आत्मबल अद्भुत था । जहाँ उन्हें बाल्यावस्था मे सूर्य का प्रकाश नहीं सुहाता था, जो रत्नों की ज्योति मे ही रहा करते थे, जिन्हें पाँवो मे राई के दाने चुभते थे ; वहीं मुनि अवस्था मे उन्होंने जैसी-जो कठोर साधना की, उसकी इतिहास व पुराणो मे कोइ मिसाल नही मिलती ।

अपने पूर्वभव – वायुभूत की पयार्य मे छोटे से वटबीज की तरह वैरभाव का ऐसा बीज बो दिया था, जो दिखने मे भले छोटा था, पर उसका फल सुकुमाल को अपनी मुनि दशा मे वटवृक्ष की भाति बहुत बडे उपसर्ग के रूप मे भोगना पडा ।

पुराणो से पता चलता है कि महा मुनि सुकुमाल अपनी भूतपूर्व – वायुभूत की पयार्य मे यौवनावस्था तक अनपढ़ रहे । वे न केवल अनपढ़ थे, बल्कि स्वभाव से क्रोधी व कृतघ्नी भी थे । इनके एक भाई और थे उनका नाम था अग्निभूत । अग्नि–भूत बडे थे और वायुभूत छोटे। सयोग से बचपन मे दोनो ही अनपढ़ रह गये ।

यद्यपि इनके पिता राजपुरोहित थे और उनका राज्य मे अच्छा सम्मान था तथा उत्तराधिकार मे राजपुरोहित का पद उनके इन्ही बेटो को मिलता, पर लाड़-प्यार मे दोनो बालकों के अनपढ़ रह जाने से वह पद उन्हें नही मिल सका। इसकारण वे दोनो आजीविका से भ्रष्ट होकर मारे-मारे फिरने लगे ।

उनकी यह स्थिति देखकर उनकी माँ ने उन्हें अपने भाई के पास पढ़ने भेजा । मामा के पास पहुँचकर दोनो भाईयों ने उन्हें माँ का सदेश सुनाया और अपने आने का उद्देश्य बताया ।

मामा यशोभद्र ने एक क्षण विचार करके कहा - तुम्हारी माँ ने यह कहकर भेजा सो तो ठीक है, पर मेरी तो कोई सगी बहिन ही

नही थी, तो तुम मेरे भानजे कैसे हो सकते हो ? फिर भी जब तुम आ ही गये और पढ़ना चाहते हो तो मै तुम्हें पढ़ा दूँगा, पर तुम्हारे खाने-पीने की व्यवस्था तुम्हे स्वय भिक्षावृत्ति से करनी पडेगी तथा मेरी आज्ञा का अक्षरशः पालन करना होगा ।

यद्यपि उनके मामा यशोभद्र को किसी भी विद्याप्रेमी शिष्य को अपने पास रखने मे कोई असुविधा नही थी, फिर सगे भानजो को अपने पास न रखने का तो प्रश्न ही क्या था ? और वह भी पढ़ाने के लिए। जैसे अपने बेटे वैसे ही बहिन के बेटे; पर यशोभद्र को यह भली-भाँति पता था कि ये दोनो माता-पिता के लाड-प्यार मे ही बिगडे है । अत. उन्होने सोचा - "मॉ-बाप की डॉट-डपट तो बेटे एकबार सह भी ले , पर मामा का रिश्ता तो बहुत ही नाजुक होता है। माँ से मामा मे द्विगुणित स्नेह की मात्रा होती है । देखो न । 'मामा' शब्द मे ही दो मॉ है न ? अत· इन्हे पढाने के लिए कुछ दिनो को मुझे मामा का ममत्व तो त्यागना ही होगा।"

यह सोचकर उन्होने निर्मम होकर कहा - "सोच लो भाई । तुम चाहोगे तो मै मात्र पढाने की व्यवस्था कर सकता हूँ, भोजन आदि की व्यवस्था तुम्हे स्वय भिक्षावृत्ति से करनी होगी ।"

अग्निभूत व वायुभूत बहुत परेशान थे, अतः उन्होने गुरुजी की सब शर्ते स्वीकार करली और अध्ययन करने लगे ।

जब वे पढ़-लिखकर अपनी पुरोहिताई विद्या मे निपुण हो गये और गुरु से विदाई लेकर घर वापिस जाने लगे तो गुरुजी ने अपने दीक्षात भाषण मे रिश्ते का असली रहस्य उद्घाटित करते हुए उनसे कहा कि- "सभवत· अब तुम समझ गये होगे कि उस समय मैने तुम्हे अपना भानजा मानने से क्यो इकार किया था ? बहुत कुछ सभव था कि जिस कारण तुम माता-पिता के पास नही पढ सके, उन्ही कारणो से यहाँ भी पढ़ने से वचित रह जाते ।"

यह बात सुनकर बडे भाई अग्निभूत ने तो गुरु मामा का बहुत भारी उपकार माना और कृतज्ञता का भाव प्रगट किया; पर वायुभूत

जो स्वभाव से ही अहकारी, दुष्ट व कृतघ्नी था, उसने उपकार न मानकर उल्टा क्रोध प्रगट किया और नाराज होकर वहाँ से घर चला गया ।

वायुभूत ने अपने दुराचार के कारण अल्पायु के साथ थोड़े ही काल मे कूकरी, सूकरी व चडालनी आदि की नाना योनियो मे जन्म-मरण के दुःख उठाते हुए नागशर्मा ब्राह्मण के यहाँ नागश्री नामक कन्या के रूप मे जन्म लिया और वहाँ जैन साधु के सपर्क मे आने से उसका जीवन सुधरना प्रारंभ हुआ ।

वायुभूत की पयार्य मे नागश्री के जीव ने जिन मामा (गुरु) यशोभद्र से विद्यार्जन की थी, सयोग से नागश्री की दिगम्बर साधु के रूप मे उन्हीं से पुन. भेट हो गई । नागश्री को देखते ही यशोभद्र मुनि ने अपने निमित्त ज्ञान से उसके पूर्व भव जान लिए और करुणा कर उसे भेदज्ञान कराने के साथ पचाणुव्रत भी दे दिये । जिनका उसने दृढता से पालन करते हुए पाप कर्मो का क्षय किया और वही नागश्री आगे चलकर सुकुमाल हुई ।

इस तरह हम देखते है कि यशोभद्र मुनि ने वायुभूत की पयार्य से लेकर सुकुमाल की पयार्य तक इस जीव को तीन-तीन बार ज्ञानदान देकर सन्मार्ग पर लगाया । सो ठीक ही है जिसकी होनहार भली हाती है उसे निमित्त तो मिल ही जाते है ।

× × ×

अग्निभूत भरे यौवन मे मुनि हो गये तो उनकी पत्नी का उनके वियोग मे दुःखी होना स्वाभाविक ही था । मोह की महिमा ही कुछ ऐसी है उसके कारण अज्ञानी जीवो को अपने हित-अहित का कुछ भी विवेक नही रहता।

मोही जीवो को किसी कार्य के असली कारण का पता तो होता नही है। वे तो निमित्तो पर ही दोषारोपण किया करते हैं और बिना कारण उन पर राग-द्वेष किया करते है ।

यही स्थिति अग्निभूत की पत्नी की थी । वह अपने पति के सयासी होने का कारण अपने देवर वायुभूत को मान रही थी । अतः

वह वायुभूत पर दोषारोपण करके उसे कोसा करती थी । वायुभूत भी क्रोधी प्रकृति का तो था ही, अभिमानी भी बहुत था । विवेक तो उसमे नाममात्र को भी नहीं था । भला वह भाभी के मिथ्या दोषारोपण को कैसे बर्दाश्त कर सकता था ? उसने भी ईट का जवाब पत्थर से देने की ठान ली और एक दिन क्रोध से आग-बबूला होकर उसे नाना प्रकार से अपमानित करते हुए उसके मुँह पर लात दे मारी ।

अबला होने से वह भाभी उस समय तो कुछ भी प्रतिकार नही कर पायी, पर उसे क्रोध तो बहुत आया । उसने मन ही मन सकल्प किया कि मै इस अपमान का बदला लेकर ही रहूगी ।

उसका वह क्रोध अदर ही अदर अन्तर्मन मे पडा-पडा धीरे-धीरे बैर मे बदल गया । सक्लेश परिणामो के साथ कुमरण करने के कारण वह भाभी का जीव नाना निकृष्ट योनियो मे जन्म-मरण करता रहा । भली होनहारवश जब वायुभूत का जीव सेठपुत्र सुकुमाल के रूप मे मनुष्य पर्यार्य मे आया तब उसी समय वायुभूत की भाभी का जीव उसी जगल मे सियारनी की पर्यार्य मे जा पहुँचा । सियारनी मासाहारी पशु होने से स्वभावतः मासाहारी तो थी ही, फिर मनुष्य का मास तो पशुओ को और भी अधिक प्रिय होता है । जब सेठ पुत्र सुकुमाल मुनि बनकर जगल के काटो-ककडो से भरे रास्ते मे जा रहे थे तो उनके कोमल पावो मे ककड चुभने से खून बहने लगा । रास्ते मे पडे उस खून को चाटते-चाटते वह सियारानी अपने बच्चो सहित वहाँ जा पहुँची, जहाँ महामुनि सुकुमाल ध्यानस्थ हो गये थे । उन्हें देखते ही पूर्वभव के बैर के दृढ़ सस्कारवश उस सियारनी को उनके प्रति अनजाने ही द्वेष उमड आया और उसने निर्दयतापूर्वक धीरे-धीरे तीन दिन तक उन्हें नोच-नोच कर खाया, फिर भी मुनि सुकुमाल सुमेरु की तरह अडिग रहे और आत्मा का ध्यान करते-करते समाधिमरणपूर्वक देह विसर्जित करके सर्वार्थसिद्धि मे अहमिन्द्र हुए ।

× × ×

कहाँ तो महान तपस्वी, महान उपसर्गजयी, धैर्य के धनी, धीर-वीर महानमुनि सुकुमाल का परम उत्कृष्ट जीवन और कहाँ महाक्रोधी, महाकृतघ्नी, महामानी, अनपढ़ वायुभूत का महानिकृष्ट जीवन ! एक ही जीव की भिन्न-भिन्न दो दशाओ में जमीन-आसमान जैसा कितना व कैसा महान अन्तर ।

पर यह कोई असभव बात नही है । और भी ऐसे उदाहरण पुराणो मे पाये जाते है । महावीर और मारीचि को ही देख लीजिए न ! जो मारीचि की पर्याय मे महा मिथ्यादृष्टि था, तीर्थंकरत्व का घोर विरोधी था, वही महावीर की पर्याय मे आकर स्वय साक्षात् धर्मतीर्थ प्रवर्तक तीर्थंकर बन गया। यह है परिणामो की विचित्रता ।

जीवो के परिणामो की इस विचित्रता के सबंध मे कविवर भागचन्दजी ने ठीक ही कहा है -

"जीवन के परिणामन की अति विचित्रता देखहु प्राणी ।
नित्य निगोद माँहि तें कढ़िकर, नर पर्याय पाय सुखदानी ।।
समकित लहि अन्तर्मुहूर्त में केवल पाय वरी शिवरानी ।।

कहाँ तो नित्यनिगोद की अत्यन्त मूर्छित दयनीय दशा और कहाँ मनुष्य पर्याय की उत्कृष्टता ? उसमे भी सम्यग्दर्शन की जागृत दशा, न केवल सम्यग्दर्शन, बल्कि केवलज्ञान और मुक्ति दशा की प्राप्ति भी।"

ऐसी स्थिति मे यदि वायुभूत के जीव ने अपनी आत्मोन्नति करके महामुनि सुकुमाल जैसी परम पवित्र पर्याय प्राप्त कर ली तो उसमे भी कोई आश्चर्य नही होना चाहिए ।

इसलिए तो कहते हैं कि - जब समय आ जाता है तो सुलटते देर नही लगती । अतः वर्तमान पर्याय के परिणामो के कारण किसी को सर्वथा बुरा या भला मान लेना उचित नही है । तथा स्वय अपनी वर्तमान दशा को उन्नत या अवनत देखकर अभिमान या निराश होना भी योग्य नही है । परिस्थितियो के बनते बिगड़ते देर नहीं लगती । आज का पशु कल परमात्मा बन सकता है। अतः किसी का अनादर या उपेक्षा करना उचित नहीं है ।

भला उस समय कौन जानता था कि यही वायुभूत आगे चलकर महामुनि सुकुमाल बनेगे और साधु परमेष्टी मे सम्मिलित होकर जगत पूज्य हो जायेगे ?

× × ×

वस्तुत. ससार मे ससरण करने वाले, भव-भ्रमण करने वाले सभी जीव भूले भगवान है । अपने उस भगवत स्वभाव को न जानने-पहचानने रूप भूल मूल मे हो रही है । इसी भूल का दूसरा नाम तो ससार है । जब तक यह जीव अपनी भगवत्ता को नही जानेगा, पहचानेगा; तब तक जन्म-मरण का अभाव नही हो सकता । इस दृष्टि से अपने आत्मस्वरूप को न जानना, न पहचानना कोई साधारण भूल नही है, क्योकि साधारण भूल की इतनी बडी सजा नही हो सकती ।

जगत मे जो हम जन्म-मरण कर रहे है, दुःख भोग रहे है, वे सब इसी मूल मे हो रही भूल के कारण ही तो भोग रहे है । सभी अपने स्वभाव को भूले हुए है । पर यह बात हम ससारी प्राणियो को समझ मे अभी तक नही आई । हम अब तक इन दुःखो के कारणो की खोज बाह्य जगत मे ही करते रहे है, जबकि भूल अपने अदर ही है ।

यदि हम अपनी यह भूल स्वीकार कर ले तो फिर हम ससार मे ससरण करे ही क्यो ?

जिसप्रकार पागलखाने मे रहने वाला कोई भी पागल अपने को पागल नही मानता, उसीप्रकार कोई भी ससारी प्राणी अपने को भूला हुआ नही मानता । यही तो हमारी सबसे बडी भूल है, सबसे बडा पागलपन है।

पर, सौभाग्य यह है कि वह भूल केवल अपनी एक समय की पर्याय मे ही हुई है, त्रिकाली आत्मद्रव्य मे नही । भगवान आत्मतत्त्व तो सदा निर्भूल स्वभावी ही है और उस निर्भूलस्वभावी आत्मा या कारणपरमात्मा का आश्रय लेते ही, उस पर दृष्टि डालते ही यह

अनादिकालीन भूल मिट जाती है । अतः इस दिशा में हमे सदैव सक्रिय रहना चाहिए ।

यह तो हुई बहुत बड़ी भूल की बात, पर हम तो इतने लापरवाह है कि सामान्य-सी छोटी-मोटी भूलो की भी परवाह नहीं करते । कभी-कभी सामान्य-सी दिखने वाली भूल भी या जरा सी नासमझी भी कैसे तिल का ताड या राई का पहाड बन जाती है, यह हम सोच भी नही सकते । अतः हमे कोई भी छोटा-बड़ा काम करने के पहले उसके पूर्वापर परिणाम पर दूरदृष्टि से विचार अवश्य कर लेना चाहिए।

किसी कवि ने ठीक ही कहा है :-

"छोटा बडा कुछ काम कीजे, परन्तु पूर्वापर सोच लीजे ।
बिना विचारे यदि काम होगा, अच्छा न उसका परिणाम होगा"

यदि यह देखना हो कि - राग-द्वेषवश की गई छोटी-सी भूल का कितना भयकर परिणाम हो सकता है तो यह भी हम उपसर्गजयी उन्हीं महामुनि सुकुमाल के पूर्वभव की उस छोटी-सी घटना मे देख सकते है, जिसमे उन्होने सामान्य-सी नासमझी मे भी अपनी भाभी का लात मारकर की थी । जिसका फल उन्हें इतने बडे प्राणघातक उपसर्ग के रूप मे भोगना पडा ।

कवि सूरचदकृत वृहत समाधिमरण पाठ मे भी उनका इसीप्रकार का उल्लेख आया है । वहाँ लिखा है -

"धन्य-धन्य सुकुमाल महामुनि कैसे धीरजधारी ।
एक श्यालनी जुग बच्चाजुत, पांव भख्यो दुःख भारी ॥
यह उपसर्गसह्योधरथिरता आराधन सुखकारी ।
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु महोत्सव भारी ॥

एक नहीं, ऐसे अनेक उपसर्गजयी साधुओ को इस रूप मे स्मरण किया गया कि उन्होने बड़े-बड़े भयकर दुःख सहे हैं । हमे-तुम्हें तो उनकी तुलना मे कुछ भी कष्ट नहीं है । अतः हमे भी उनसे प्रेरणा लेकर आये दुःख को अपनी ही भूल का फल या अपने उदय का परिणाम

समझकर धैर्य से सहन करना सीखना चाहिए । ताकि पूर्वबद्ध कर्म खिर जावे और नवीन कर्मबंध न हो ।"

यह ज्ञानपरक चर्चा सुनकर विवेकी बहुत प्रसन्न हुआ तथा और भी जो उपसर्ग विजेता समाधि मे सफल रहे, उनके बारे मे भी जानने की जिज्ञासा प्रगट की । परन्तु उस समय मुझे फुर्सत भी नही थी और वे भी घर वापिस जाने की जल्दी मे थे । अत मैने उन्हें अन्य पुराण प्रसिद्ध सुकौशल, गजकुमार, सनतकुमार, पाचो पाडव आदि अनेक महान उपसर्गजयी मुनिराजो का नामोल्लेख करते हुए इनके जीवनचरित्रो एव पुराणो को पढ़ने की प्रेरणा देकर उस दिन के अन्तिम वक्तव्य से विराम ले लिया ।

सदासुखी व विवेकी अपनी मित्र-मडली के साथ अपने घर वापिस चले तो गये, पर उनके आये दिन आने वाले पत्रो से ऐसा लगता था कि उनके जीवन मे आश्चर्यजनक परिवर्तन हो रहा है ।

प्रथम पत्र मे ही उन्होने लिखा था कि उन्होने घर पहुँचते ही उन सभी समाधि साधक महान तपस्वियो के जीवन चरित्रो को आद्योपात पढ लिया है, जिनको पढ़ने की प्रेरणा मैने दी थी । यह जानकर मुझे भारी प्रसन्नता हुई, मेरे हर्ष का ठिकाना न रहा । मैने भावना भायी-सभी जीव इसी प्रकार सन्मार्ग मे लगाकर अपना कल्याण करे । ●

*मैं एक शाश्वत सत्य हूँ,*
*ध्रुव-धाम हूँ चैतन्यमय ।*
*मैं हूँ अनादि-अनंत जब,*
*तब क्यो सतावे मृत्यु भय ॥*

*बोधि-समाधि द्वार है,*
*निजरूप पाने की कला ।*
*सयास और समाधि है,*
*जीना सिखाने की कला ॥*

—रतनचंद

# १६

स्त्री-पुरुष-कुटुम्ब-परिवार के प्रति हुआ अनुराग तो दुःखद होता ही है, पर धर्मानुराग भी कम कष्टकारक नही होता ।

सदासुखी व विवेकी से मेरा धर्मानुराग के सिवाय और सबध ही क्या था ? कुछ भी नही । पर, जब से सदासुखी की चिट्ठी से विवेकी के बीमार होने का समाचार ज्ञात हुआ, तभी से पता नही क्यो, मेरा मन भारी-भारी हो गया । मै स्वय को सहज व सामान्य स्थिति मे नही रख पाया ।

साधर्मी वात्सल्य मे भी इतना गहरा आघात लग सकता है, इसका मुझे उस दिन पहली बार अनुभव हुआ ।

सदासुखी का पत्र पढते-पढ़ते पहले तो मै उसकी याद मे ऐसा खो गया कि अन्य कुछ सुध-बुध ही न रही । फिर उसके विषय मे मन ही मन अन्तर्जल्प करते-करते पता नही कब/कैसे मै जोर-जोर से बोलने लगा, ऊँची आवाज मे कहने लगा कि — "सर्वज्ञ भगवान के सिवाय कोई नही जानता कि - किसको/कब/क्या हो जाए ? बेचारा यहाँ से भला-चगा गया था । अभी उसे गये पूरे दो सप्ताह भी नही हुए कि यह अनर्थ हो गया ।"

अन्दर से मेरी श्रीमतीजी की आवाज आई — "अरे ! वहाँ अकेले बैठे-बैठे किससे/क्या कह रहे हो ? इतने जोर-जोर से क्या दीवारो से बाते कर रहे हो ? अरे । किसको/क्या हो गया ? मै भी तो सुनू ! किसके बारे मे कह रहे हो ? मेरे भैया को तो नहीं हो गया कुछ ? ले-देकर एक ही तो मेरा भाई है और वह भी ---- । खैर ! जैसा भी है ------- ।" कहते-कहते उसका गला भर आया और आँखो मे आँसू झलक आए ।

मैने कहा – "नहीं, महाभाग । दुःखी न होइए । तुम्हारे प्यारे भाई को कुछ नही हुआ, उसे हो भी क्या सकता है ? लोगो की मौत जिसकी मुट्ठी मे हो, वह जब/जिसको मृत्युलोक भेजना चाहे भेज सकता हो, भला उसको क्या हो सकता है ? उसकी बडबोली बातो से तो ऐसा लगता है मानो वह अमरता का पट्टा लिखाकर ही आया है । पर ध्यान रहे, इस ससार मे अमर भी अमर नही होते । एक न एक दिन तो उन्हे भी राम का प्यारा होना ही पड़ता है, मौत के शिकजे से कोई नही बच सकता ।

अरे । यहाँ आँसू बहाने के बजाय एक बार वहाँ जाकर उस भले आदमी से कहो कि कभी भूले-भटके भगवान का नाम तो ले ही लिया करे । उसके लिए तो आजकल पैसा ही परमेश्वर बन बैठा है । दिन-रात पेट के नाम पर पेटी भरने के चक्कर मे ही पडा रहता है । न नीति-अनीति का ख्याल, न सच-झूठ का ठिकाना । नेतागिरी के नाम पर दादागिरी करता है, सो अलग । दया नाम की वस्तु तो उसके पास है ही नही।

शायद वह समझता है, उसकी दादागिरी से यमराज भी डर जाएगा, पर ऐसा नही होगा । जिस दिन मौत का पैगाम आ जाएगा, यह सब कुछ यही ऐसे ही छोडकर सदा-सदा के लिए चला जाना होगा । केवल भली-बुरी करनी ही उसके साथ जाएगी । जिसका नतीजा नरक निगोद मे जाकर भोगना पडेगा । अत· उसे समझाओ कि वह इन सब धधो को छोडकर थोडा धरम-करम मे ध्यान लगाए ।

पैसे की क्या कमी है उसके पास ? पर वह आदत से मजबूर है । जितना वह ऊपर से धौला रहता है, उतना ही अन्दर से काला है । उसने तो गाँधी टोपी को कलंकित ही कर दिया है । उसने राजनैतिक नेतागिरी के नाम पर दादागिरी की दुकान चला रखी है ।"

पत्नी पुन· बोली : "तुम उसके लिए इतने परेशान न हुआ करो । वह इस जनम मे तो सुधर नही सकता । क्या तुम्हें पता नहीं, पिताजी

उसको समझा-समझा कर कैसे थक गए थे, पर उसने उनकी भी कहाँ सुनी ?

तुम एक ओर तो सबको यह समझाते-समझाते नहीं थकते कि - कोई किसी का भला-बुरा नहीं कर सकता और दूसरी ओर भला करने का इतना तीव्र विकल्प ? अरे ! छोडो भी उस नालायक की चर्चाएँ। मुझे तो उसकी चर्चा से भी चिढ़ होने लगी है ।"

मैने कहा – "भागवान ! तुम्हारे उस इकलौते भैया की चर्चा मैने छेडी थी या तुमने ? तुम्ही तो मेरी धूमिल स्मृति के घावो को हरा-भरा करती हो और जब मेरा मन भडक उठता है तो तुम ही उसकी चर्चा छोडने को कहने लगती हो । ठीक है, छोड़ देता हूँ, पर क्या करूँ, अपनापन होने से कभी-कभी यह विकल्प आ जाता है कि – काश ! वह सन्मार्ग पर आ जाता तो उसका मानव जीवन सार्थक हो जाता ।"

पत्नी भावुक होकर बोली - "आप ठीक कहते हो, राग का स्वरूप ही कुछ ऐसा है, जो आप जैसे ज्ञानियो को भी जब कभी-कभी विचलित कर देता है तो हम तो बिसात ही क्या हैं ? बहिन होने के नाते मुझे भी कभी-कभी उसका राग बहुत ही परेशान कर देता है, मेरी तो कई राते उसके विकल्प मे खराब हो जाती हैं, रात-रात भर नीद नही आती । यह कहते-कहते पत्नी की आँखे डबडबा आई ।"

आँसू पोछते हुए उसने कहा - "एक बार आपने यह भी तो कहा था कि जो कुकर्म करने मे जितना शूरवीर-दुस्साहसी होता है, यदि वह सुलट जावे तो धर्म के क्षेत्र मे भी वह वैसा ही शूरवीरपना दिखा सकता है, धर्म के क्षेत्र मे भी उतना ही सफल सिद्ध हो सकता है ।

सभव है आपका विकल्प कभी सार्थक हो जावे और यह भी हो सकता है कि उसका भविष्य उज्ज्वल बनना हो, इसी कारण आपको उसके प्रति ऐसी करुणा आती हो । मै तो यही कामना करती हूँ कि आपका विकल्प सार्थक हो जावे ।"

आगे बात बदलते हुए उसने पूछा - "किसका पत्र है और उसमे क्या लिखा है ? किसको क्या हो गया है । जिसकी चिन्ता मे तुम इतने भावुक हो उठे ? सौभाग्य से अब तुम्हे घर-परिवार की कोई चिन्ता नही रही तो जगत का भला करने की धुन सवार हो गई और वह भी इस स्तर पर कि नीद ही हराम हो जाये । मियाजी यो ही शहर के अदेशे मे दुबले हुए जा रहे है, यह बात अपनी समझ मे नही आती । भला यह भी कोई बात हुई ?

मैने उसकी पहली बात की सुनी-अनसुनी करते हुए उसके दूसरे प्रश्न के उत्तर मे कहा - "विवेकी को पक्षाघात हो गया है, लकवा लग गया है- ऐसा सदासुखी ने अपने पत्र मे लिखा है ।"

पत्नी ने अफसोस प्रगट करते हुए कहा - "अरे ! यह तो बहुत बुरा हुआ ।

बिचारे जाते-जाते कितना कहकर गये थे कि हम शीघ्र ही वापिस आयेगे।"

मैने बीच मे ही कहा - "उन वेचारो को क्या पता था कि वे अब कभी वापिस न आने को जा रहे है, सदा के लिए विदाई लेकर जा रहे है।

पत्नी ने जिज्ञासा प्रगट की - "अब कैसी हालत है ? पक्षाघात का असर कहाँ-कहाँ कितना हुआ है, चलते-फिरते तो है न ? अपना नित्य-कर्म करने के लिए पराधीन तो नही हो गये ?

मैने पत्र पढकर सुनाते हुए कहा - "पक्षाघात का प्रभाव तो सपूर्ण दाहिने अग पर है, चलना-फिरना, उठना-बैठना तो पूरी तरह बद है।

बीमारी के कारण विवेकी की शारीरिक स्थिति बहुत खराब हो गई है । मलमूत्र विसर्जित करने मे भी भारी कठिनाई होने लगी है । भोजन भी अपने हाथो से नही कर पाते । पानी पीने तक मे पराधीनता हो गई है । और तो ठीक, मुँह की मक्खियाँ भी अब वे नही भगा सकते ।

पर, इतना सौभाग्य समझो कि मुँह, कान, आँख, व मस्तिष्क पर अधिक असर नहीं आया है । इसकारण सोचने-विचारने, बोलने एवं देखने-सुनने की शक्ति क्षीण नही हुई है ।"

यह समाचार सुनाते हुए और विवेकी को देखने के लिए जाने की भूमिका बनाते हुए मैने अपनी धर्मपत्नी से कहा - "धर्मप्रेमियो को जितना प्रेम अपने विषय-कषाय व स्वार्थ के साथ कई स्त्री-पुत्र व कुटुम्ब-परिवार से होता है, उससे भी कई गुना अधिक प्रेम अपने साधर्मीजनो से होता है, और जितना प्रेम साधर्मीजनों से होता है, उससे भी कई गुना अधिक प्रेम धर्मायतनो से - देव-शास्त्र-गुरु तथा जिनबिम्ब, जिनालय व धर्मतीर्थों से होता है; तथा जितना प्रेम धर्मायतनो, धर्म के साधनो से होता है; उससे भी कई गुना अधिक प्रेम धर्म से - ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा से, शुद्धात्मा या कारण परमात्मा से होता है ।

यदि ऐसा हो तो ही उसका धर्मप्रेम सच्चा मानना चाहिए, अन्यथा उसमे सच्चा धर्मप्रेम नही है - ऐसा ही माना जायेगा ।"

इस बात को सुनकर पत्नी मेरी भावना को भाँप गई । वह समझ गई कि मै लबी-चौडी भूमिका क्यो बना रहा हूँ ? अतः वह बडे ही विनम्र भाव से सहानुभूति प्रगट करते हुए बोली - आप विवकी को सबोधनार्थ उनके घर अवश्य जाइए । ऐसे समय मे नही जाओगे तो कब जाओगे ? मै भी आपके साथ चलूँगी; क्योंकि ऐसे सकट के समय अपने ठहरने, खाने-पीने और आतिथ्य का भार उन पर डालना उचित नही है । मै आपको तो सभालूँगी ही, यथासभव विवेकी की सेवा टहल करने मे भी सहयोग करूँगी । क्या पता उनके परिवार वाले कितना समय निकाल पाते होगे ? आखिर यही एक काम थोडे ही है उनके सामने । और भी न जाने क्या-क्या समस्यायें होगी ।"

मै उसकी इस समझदारी पर आश्चर्यचकित था । मेरी भावभगिमा को देखकर वह पुनः बोली - "ऐसे क्या देख रहे हो ? मै ठीक ही तो कह रही हूँ, ऐसे मौके पर मैं मजाक नहीं करती । चलो । उठो । लो तैयारी करो ।

कल्पना करो, कदाचित् मेरे भाई के सबध मे ही ऐसा कोई समाचार मिलता तो हम लोग दौड़े-दौडे जाते या नही ?

मैने कहा - "महाभाग ! जाते, अवश्य जाते, वहाँ नही जाते तो फिर रहते कहाँ ! मुझे अभी इस घर मे बहुत दिनो रहना है, अत· ऐसी गलती तो मै कैसे कर सकता था ?"

वह बोली - "तुम तो सदा मुझसे ठिठोलियाँ ही करते रहते हो । अरे । मै तो यह कह रही हूँ कि गृहस्थ अवस्था मे मेरे भाई जैसे सात व्यसनियो, अधर्मियो और पापियो के साथ भी तो व्यवहार निभाना पडता है, जिन्हें हम से मिलने का कोई हर्ष नही होता और जिनके हृदय मे हमारे प्रति कोई आदर - सम्मान भी नही होता । फिर वे लोग तो हमारे साधर्मी ठहरे।

साधर्मीजनो की खोज-खबर लेना एव उनका तन-मन-धन से सहयोग करना तो हमारा परम कर्तव्य है । फिर वह तो हमारा शिष्य एव अनन्य मित्र भी है । जब हम विवेकी से मिलेगे तो उन्हे कितनी खुशी होगी । आधा दु ख तो उनका वैसे ही दूर हो जायेगा । अत· हमे आज ही चलने की तैयारी कर लेना चाहिए, ताकि उन्हे आपके सान्निध्य का लाभ अधिक से अधिक मिल सके ।

दूसरे दिन जब हम वहाँ पहुँचे तो हमने देखा कि विवेकी एक बहुत ही छोटे अधेरे कमरे मे अकेला पडा है, शायद उस कमरे ने कभी सूर्य के प्रकाश के दर्शन तो किए ही नही थे । दिन के बारह बजे भी मोमबत्ती या बल्ब से ही एक-दूसरे का मुँह देखा जा सकता था।

एक कोने मे स्टूल पर पुराना पखा रखा था जो, केवल अपनी खड-खड की आवाज से अपने अस्तित्व का बोध करा रहा था । पास मे एक चौकी पर पानी का लौटा-गिलास रखा था । बाहर दरवाजे पर एक बूढा नौकर बैठा-बैठा सो रहा था, जो उनकी सेवा-सुश्रुषा के लिए होगा । पर वह शायद बहरा था, हमने बहुत आवाज लगाई, पर उसके कानो पर जूँ तक नही रेंगी ।

सभवतः पानी का गिलास उठाने की कोशिश मे गिलास हाथ से छूट कर टूट गया था, कांच के टुकड़े व पानी अभी भी वहाँ फैला पड़ा था । विवेकी जागते हुए भी सोया सा लग रहा था, मुँह पर मक्खियाँ भिन-भिना रही थी । वह बिचारा पलक झपकाने और मुस्कुराने के सिवाय और कुछ नही कर पा रहा था । हमे देखकर उसकी मुस्कुराहट ने हमारा स्वागत किया, आँखो ने आव-भगत की । हम भी पास मे पड़ी एक बेच पर बैठ गये । उसे देखकर हमारी आँखो से आँसू टपक पड़े । हमारे आँसू देखकर उसकी आँखे भी नम हो गई, पर उसने कहा - "अरे । गुरुजी आपकी आँख मे पानी !"

मैने अपनी कमजोरी छुपाते हुए कहा - "अरे पगले ! ये तो प्रेमाश्रुहै।

आँसुओ का क्या काम ?"

फिर मैने पूछा - "घर-परिवार वाले सब कहाँ गये ? क्या यहाँ कोई नही है ?"

विवेकी का उत्तर था - "अरे भाई । एक दिन की बात थोडे ही है, जो सब लोग यहाँ मेरे पास बैठे रहे । आखिर रोजी-रोटी भी तो कमानी है, धधा-पानी नही देखेगे तो घर-खर्च कैसे चलेगा ? बाहर नौकर बैठा है, जरूरत के काम वह करता रहता है ।"

मैने कहा- "वह तो शायद बहरा है ।"

विवेकी बोला - हाँ, भाई । नौकर आजकल मिलते ही कहाँ है।

मेरी पत्नी ने बीच मे बात काटते हुए पूछा - "और बहुएँ-बेटियाँ कहाँ चली गई ।"

विवेकी बोला - "बच्चे तो कॉलेज, स्कूल गये होगे और बहुएँ विश्राम कर रही होगी । वे भी बेचारी दिन भर काम करते-करते थक जाती है । आखिर शरीर ही तो है, थोड़ा बहुत विश्राम तो मागता ही है न ?

मै बैठे-बैठे सोच रहा था तत्त्वज्ञान का पूरा लाभ तो इस भले आदमी ने लिया है, इसे किसी मे कोई कमी तो दिखाई ही नहीं देती। सच्चे उपगूहन अग का धारी तो इसे कहते हैं।

यद्यपि यह सत्य है कि विवेकी के परिवारजन उसकी सेवा करने की भावना रखते हैं, पर कोरी सद्‌भावना व सहानुभूति से थोड़े ही किसी के कष्ट दूर हो जाते है । कष्ट कम करने के लिए तो भरपूर सहयोग एव सेवा की जरूरत होती है । जो उसे बिलकुल नहीं मिल रही है । फिर भी उसके विचार कितने उच्च है, कितने उदार है, कितना गभीर है, उसका वह चिन्तन !

जब मैने उसके प्रति अपनाये गये पारिवारिक व्यक्तियो के व्यवहार पर असंतोष प्रगट किया तब उसने उनकी ओर से स्पष्टीकरण करते हुए अपनी जिस महानता का परिचय दिया, वह वस्तुतः जगत को अनुकरणीय है ।

उसने कहा - "वे भी बेचारे क्या करे ? वे मेरी सेवा मे कितने भी सजग व सावधान क्यो न रहें ? पर मेरी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति समय पर कर पाना कोई सहज कार्य तो नही है । यदि दस-बीस दिन की बात हो तब तो घर के सब कार्यो को भी गौण किया जा सकता है और चौबीसो घण्टे भी सेवा मे खडा रहा जा सकता है । पर यह बीमारी ऐसी नही है, यह तो अनिश्चितकालीन बीमारी है. लबे काल तक चलने वाली बीमारी है, इस कारण परिवारजनो की सेवा करने की हार्दिक भावना होने पर भी सेवा मे शिथिलता आना अस्वाभाविक नही है ।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि रोगी की परिचर्या सेवा-सुश्रुषा के योग्य साधन सुविधाओ की उपलब्धि-अनुपलब्धि भी तो उसके पुण्य-पाप के उदय पर निर्भर करती है । अतएव भी किसी को दोषी ठहराना उचित नही है ।

मै स्वयं ही इस मामले मे अधिक भाग्यशाली नही हूँ । देखो न ! मेरी पत्नी तो मुझे छोड़कर पहले ही स्वर्ग सिधार चुकी है । जहाँ तक बेटे-बहुओ और पोते-पोतियों की बात है, सो भाई ! उन बेचारो पर पहले से ही काम का इतना अधिक बोझ है कि वे उससे ही नही

निबट पाते । मेरी सेवा मे अटकाने का अर्थ है उनके भविष्य को अधकारमय बना देना, पढ़ाई-लिखाई व आजीविका से वंचित करना । अपनी जरा-सी सुख-सुविधा के लिए भला उन्हें इतने बड़े खतरे मे डालना क्या उचित है? बेटों ने नया-नया काम डाला है । इस कारण उस पर उन्हें पूरा-पूरा ध्यान देना अत्यावश्यक है । अतः वे चाहें भी तो मैं स्वय नहीं चाहूँगा कि वे मेरे पास ही बैठे रहें ।

वे बैठकर करेंगे भी क्या ? मेरा दुःख तो मुझे ही सहना होगा, वे मेरा दुःख थोड़े ही बाँट लेगे ? और मुझे ऐसा दुःख है भी क्या ? अपनी भूल के कारण इससे भी अनन्तगुणे दुःख मैने अनन्तबार सहे हैं ।

यदि वे अपनी व्यावसायिक उन्नति के लिए अथवा अपने ऐशो-आराम के लिए भी मेरी उपेक्षा करते, तब भी मुझे कोई खेद या अफसोस नही होता; क्योंकि मै ऐसा मानता हूँ कि ये लोग तो निमित्त मात्र हैं, मेरा सुख-दुःख तो मेरी करनी का फल है, उससे इनका क्या सबध ? फिर उन्होने तो अपनी शक्ति या सामर्थ्य के अनुसार नौकर आदि की व्यवस्था तो कर ही रखी है न ? अब मेरे भाग्य से नौकर भी अच्छा नही मिला, तो इसमे उन बेचारो का क्या दोष ?

नौकर दैनिक आवश्यक नित्यकर्म ही तो निबटा सकता है । कभी-कभी तो जब वह घटो तक को इधर-उधर हो जाता है, तब तो मै पानी पीने एव पेशाब करने को भी मुँहताज हो जाता हूँ। देखो न ! वह गिलास हाथ से गिरकर टूट गया है । पर वह भी कब तक बधा कर बैठा रहे ? बैठा-बैठा वह ऊब भी तो जाता होगा । इस कारण मेरी आँख झपकते ही वह थोडी देर को खिसक जाता है ।

पर कोई बात नही, यह तो बहुत अच्छा है, घटे दो घटे की भूख-प्यास से क्या फर्क पड़ता है ? नरकों मे ऐसी प्यास व भूख है कि समुद्र भर पानी पीने पर भी प्यास नहीं बुझती और पानी की एक बूंद मिलती

नही । तीनो लोको का सपूर्ण अन्न खाने पर भी भूख नही मिट सकती और एक दाना अन्न का मिलता नही ।'

आप जो कमरे मे अधेरे व गर्मी की बात करते हो, डास-मच्छरो की बात करते हो, सो भाई । इस मकान के लगभग सभी कमरे ऐसे ही हैं, पुराने जमाने का बना है न ? हम तो यह सोचकर सतोष रखते है कि हम अनेक बार चूहे व सॉप बनकर बिलो मे भी तो रहे है, वहाँ कौन से वेन्टीलेशन या खुली खिडकियाँ थी । और जब मच्छर काटते है तब समाधिमरण पाठ की वे पंक्तियॉ स्मरण करे लेते है, जिनमे सुकुमाल-गजकुमार आदि अनेक मुनिराजो का उल्लेख किया गया है ।

सुख-शान्ति व निराकुलता से रहने का यही एक मात्र उपाय है । आप ही ने तो बताया था कि निराकुल रहने के लिए परिस्थितियो को पलटने की अनधिकार चेष्टा करने के बजाय वस्तुस्वरूप का विचार करके अपने परिणामो को पलट लेने का बहुत सीधा व सरल उपाय जिनागम मे है । यह महामत्र हम आप ही से तो सीखे है ।"

विवेकी के ये विचार सुनकर मुझे विचार आया कि - "धन्य है इसकी धार्मिक श्रद्धा को, सहनशीलता और सहिष्णुता को ।"

इतनी प्रतिकूल परिस्थितियॉ होते हुए भी मैने उसके माथे पर कभी सलवट नही देखी । मैने उसे इस बीच सदा प्रसन्न, शात और हसमुख मुद्रा मे ही देखा है ।

जैसे-जैसे मित्रो, परिचितो और रिश्तेदारो को उसकी बीमारी का पता चलता तो सामान्य व्यवहार निभाने के नाते लोग मिलने तो आते, पर रोगी के दुःखदर्द मे हाथ बटाने का, उसे जिनवाणी के दो शब्द सुनाने का अथवा उसकी पीडा को सुनने का किसी के पास समय नही होता । आये नही कि जाने की सोचने लगते । दस मिनट मे तो दो-चार बार घडी पर दृष्टि चली जाती ।

मै विवेकी के पास बैठा-बैठा आगतुकों का यही दृश्य देखता रहता । मुझे उनके उस व्यवहार से ऐसा महसूस होता था कि आज के इस

मशीनी युग मे मनुष्य भी मशीन की तरह हृदयहीन हो गया है । सहानुभूति केवल शब्दो तक ही सीमित रह गई है ।

आनेवाला प्रत्येक व्यक्ति बड़े विनम्र भाव से हाथ जोड़कर कहता कि - "हमारे लायक यदि कोई सेवा हो तो अवश्य बताइए ।" पर मरीज उसके लायक उसे कोई सेवा बताये, उसके पहले ही उसकी सुनी-अनसुनी करते हुए 'अच्छा तो चलू जरा. ' कहकर आधी की तरह आता और तूफान की तरह चला जाता, उसे कुछ सुनने की न फुरसत ही है और न जरूरत ही ।

मै लोगो का अत्यन्त औपचारिक व्यवहार और विवेकी की सहिष्णुता देख-देख कर हैरान हो रहा था । मै सोचता था कि यदि विवेकी के पास आज तत्त्वज्ञान का बल नही होता, और इस विदाई की बेला मे, इन सब परिस्थितियो को ज्ञातादृष्टा भाव से जानने-देखने की सामर्थ्य न होती तो क्या होता ? यह तो तत्त्वाभ्यास का ही चमत्कार है, जो यह जिन्दा है, अन्यथा अज्ञानी तो आत्मघात ही कर लेता ।

अनेक भुक्तभोगी व्यक्ति उसके इस धैर्य की, सहनशीलता व सहिष्णुता की प्रशसा भी करते, आश्चर्य भी प्रगट करते, पर विवेकी न तो प्रतिकूलता मे परेशान दिखाई देता और न प्रशसा मे हर्षित ही होता । साम्यभाव से सब कुछ सहते हुए पूर्व मे पढे-सुने हुए तत्त्वज्ञान के चिन्तन मनन मे ही अपने उपयोग को एकाग्र करने का प्रयत्न करता रहता ।

विवेकी की देह की दयनीय दशा और उसके चिन्तन के अनुकरणीय आदर्श को देखकर भावुकतावश मेरी आँखे अनेक बार गीली हुई । मेरी पत्नी भी मेरे आँसुओ के साथ अपने आँसू बहा रही थी । मित्र के अनुराग मे जब मै ही मात खा गया तो नारी तो आखिर मे नारी ही है न ! वह तो स्वभाव से ही भावुक और कोमल हृदय होती है ।

हम दोनो को अपने निकट पाकर विवेकी बहुत प्रसन्न था । उसे आशा थी कि समाचार मिलते ही मैं उसकी इस अन्तिम विदाई की

मगल बेला मे उसके पास अवश्य पहुंचूँगा और उसे अंतिम समय मे सबोधित करूँगा ।

पर यह उसका बडप्पन था । वह अपने आप मे इतना अधिक सजग व सावधान था कि अब उसे किसी के सबोधन की आवश्यकता ही नही थी ।

विवेकी ने निवेदन किया कि - "यद्यपि मैने अपने रोग को असाध्य मानकर भक्तप्रत्याख्यान नामक व्रत लेने का सकल्प कर लिया है, पर जब आप आ ही गये है तो कृपया इसकी विस्तृत जानकारी देकर मेरी धारणा को दृढ़ करने का कष्ट करे ।"

मैने भक्तप्रत्याख्यान का स्वरूप समझाते हुए बताया — "भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखना मे ऐसी प्रतिज्ञा ली जाती है कि - 'मै समस्त पापारंभ सावद्य से विरक्त होकर, पाचो पापो का त्याग करके मन-वचन-काय व कृत-कारित-अनुमोदनापूर्वक विषय-कषाय की रुचि, शोक, भय, अवसाद, अरति आदि कलुश-पाप परिणामो का भी त्याग करके अपने आत्मा मे स्थिर होता हूँ ।'

समाधिधारक का मूल प्रतिज्ञा वाक्य इसप्रकार है - 'अह सर्वसावद्य विरतोऽस्मि भक्त प्रत्याख्यान समाधिमरण अवधारयामि ।'

'भक्त' शब्द का अर्थ है आहार और 'प्रत्याख्यान' शब्द का अर्थ होता है त्याग । इसप्रकार भक्तप्रत्याख्यान का अर्थ है - 'अहार को कम क्रमक्रम से त्याग कर देह को कृश करना तथा व्रत-नियम-सयम द्वारा कषायो को कृश करके देह त्यागना ।'

दूसरे शब्दो मे कहें तो 'अपनी शारीरिक शक्ति प्रमाण और आयु की स्थिति प्रमाण आहार को घटाकर दूध आदि पेय पीना, फिर क्रम से दूधादि पेय पदार्थो का भी त्याग करके अपनी शक्ति प्रमाण उपवासादि करके आत्मा व परमात्मा के ध्यानपूर्वक विषय-कषायो को कृश करते हुए देह को त्यागना भक्त प्रत्याख्यान समाधि है ।'

इसका उत्कृष्ट काल बारह वर्ष और जघन्यकाल अन्तमुर्हूत प्रमाण है, इन दोनो के बीच का काल मध्यम है ।

सल्लेखना का धारक पुरुष अपने बाह्याभ्यन्तर बल एवं परिणामों को जानकर विषय-कषायो के त्यागपूर्वक शरीरादि बाह्य संयोगो एव आहारादि का क्रमशः त्याग करता है । तथा जगत के सब प्राणियो के साथ जाने-अनजाने मे हुए अपराधो के प्रति हित-मित-प्रिय वचनो के द्वारा क्षमा मागता हुआ स्वय भी क्षमाभाव धारण करता है ।

इस समाधिमरण मे ऐसी प्रतिज्ञा ली जाती है कि यदि उपसर्ग, दुर्भिक्ष या रोग आदि भाव से निवारण हो जायेगा तो ही आहार ग्रहण करूँगा, अन्यथा मरणपर्यन्त अन्नादि आहार का सर्वथा त्याग तो है ही ।"

इसी उपर्युक्त कथन के अनुसार विवेकी ने सकल्प कर लिया था कि "मै सर्वपापो का त्याग करता हूँ, मेरा सब जीवो मे समता भाव है, किसी के साथ वैर-विरोध नही है, मै सर्व विघ्न-बाधाओ को छोड़कर समाधि ग्रहण करता हूँ, कषाय रहित होने का प्रयत्न करता हूँ तथा स्वरूप मे एकाग्रता करके उसी मे जमने-रमने का सकल्प करता हूँ ।

मै आहार सज्ञा का, सपूर्ण आशाओ का और ममत्वभाव का त्याग करता हूँ तथा क्रमशः अन्नाहार का त्याग कर क्रम-क्रम से दुग्धाहार एव उष्ण जलपान पर रहूँगा, फिर दुग्धाहार का भी त्याग करके तत्त्व-ज्ञान के बल पर कषायों को कृश करते हुए देह का त्याग कर दूँगा । — ऐसा सकल्प करके विवेकी समाधि की साधना करने की तैयारी करने लगा ।

**"कोई कितना भी रागी-द्वेषी या वैरागी क्यों न हो; पर जीवन की अन्तिम घड़ियों में चिरविदाई की मंगलवेला में तो प्रायः सभी के अदर अपने परिजनों एवं सगे-संबंधियों से मिलने, उन्हें संबोधन करने, समझाने तथा उनके प्रति हुए अपने अपराधों की क्षमा याचना करने-कराने की भावना जागृत हो ही जाती है ।"**

यदि सल्लेखनाधारक ने तत्त्वाभ्यास करके जिनागम के परिप्रेक्ष्य मे समाधिपूर्वक जीना सीख लिया है, वैर-विरोध के दुष्परिणामों को जान लिया है तथा अपने अभाव मे अपने स्नेही और मोही माता-पिता एव स्त्री-पुत्रादि को होने वाले कल्पनातीत दुःखो का अहसास कर लिया है, तब तो उसे सबोधन का भाव और भी अधिक जागृत होता है । ताकि अन्तिम विदाई की बेला मे कोई आँसू न बहाये, रोये नही, दुःखी न हो ।

वस्तुत· ज्ञानी पूर्ण निर्विकल्प होकर ही, सभी से मोह-ममत्व त्याग कर ही अपने प्राण त्यागना चाहता है । अत वह सबको समझाता है ।"

इन तथ्यो से सुपरिचित विवेकी ने अपने सभी कुटुम्बियो एव सबधियो को सबोधित करके लौकिक सबधो से भेदज्ञान कराते हुए कहा -

"सभी रिश्ते शरीर के रिश्ते है । जब तक यह शरीर है, तब तक आप के सब रिश्तेदार हैं, शरीर बदलते ही सब रिश्ते बदल जायेगे । शरीर से ही इन रिश्तो की पहचान है । बताओ । आत्माओ को कौन पहचानता है ? जब किसी ने किसी के आत्मा को कभी देखा ही नही है तो उसे पहचाने भी कैसे ?"

विवेकी ने आगे कहा - "इस शरीर के भाई-बधुओ । बेटे-बेटियो। व कुटुम्बीजनो । मेरा आप सबसे कोई भी सबध नही है । ये सब रिश्ते जिसके साथ थे, उससे ही जब मैने सबध विच्छेद कर लिया है तो अब आपसे भी मेरा क्या सबध ? जब देह ही अपनी नही है तो देह के रिश्तेदार अपने कैसे हो सकते हैं ? अतः मुझसे मोह ममता छोडो, मैं भी इस दुखदाई मोह से मुँह मोडकर सबसे सबध छोडना चाहता हूँ । ऐसा किए बिना सुखी होने को अन्य कोई उपाय नही है ।

अतः सब ऐसा विचार करे कि - "मै शरीर नही, मै तो एक अखण्ड ज्ञानानद स्वभावी अनादि-अनन्त एव अमूर्तिक आत्मा हूँ तथा यह शरीर

मुझसे सर्वथा भिन्न जडस्वभावी, सादि-सान्त, मूर्तिक पुद्गल है । इससे मेरा कोई संबंध नहीं है ।

जिसे आपने कभी न देखा, न पहचाना, उससे मोह कैसा ? अतः आप मुझसे राग-द्वेष का भाव छोड़े । मै भी आप सबके प्रति हुए मोह एव रागद्वेष को छोडना चाहता हूँ । आप लोग मेरे महाप्रयाण के बाद, खेद-खिन्न न हो तथा आत्मा-परमात्मा की साधना-आराधना मे सदा तत्पर रहे ।

बस, यही मेरा आपको सदेश है, उपदेश है, आदेश है और आशीर्वाद है । इसे जिस रूप मे चाहें ग्रहण करे । पर इस कल्याण के मार्ग मे अवश्य लगे । इस स्वर्ण अवसर को यो ही न जाने दे ।"

विवेकी की इस आदर्श समाधि एव उत्कृष्ट भावना से जहाँ एक ओर मुझे भारी प्रसन्नता थी, वही कुछ-कुछ ईर्ष्या भी ---- । मै भावुक हो उठा था । मेरी आँखो से आँसुओ की झडी लग गई थी, जिन्हे पोछना कठिन हो रहा था । मै असमजस मे था, सोच रहा था, लोग क्या कहेगे ? यह कैसे गुरुजी है ? यदि किसी ने कह दिया कि - "क्या सारा ज्ञान दूसरो को समझाने के लिए ही होता है ?-----"तो मै क्या मुँह दिखाऊँगा ?

मैने अपने मन को झकझोरते हुए कहा - "कहो गुरु कैसी रही ? बडे गुरु बनते थे, ज्ञानी होने का दभ भरते, यह क्या हुआ ? नारियो की भाँति भावुक हो ये आसूँ क्यो बहा रहे हो ? कहाँ गया वह तुम्हारा तत्वज्ञान ? तुम्हारे ये आँसू देख जब कोई कहेगा कि वाह भाई वाह !! गुरु तो गुरु ही रह गया, चेला महागुरु बन गया, तो तब तुम क्या कहोगे --- ?"

मेरे मन के ही दूसरे कोने से आवाज आई - "कहने दो, कहने दो; कोई बात नहीं, हम भी कह देगे, आखिर शिष्य किसका है ?"

जिस तरह पुत्र के आगे बढ़ने से पिता प्रसन्न ही होता ईर्ष्यालु नही, उसी तरह शिष्य भी यदि गुरु से आगे बढ़ता है तो गुरु भी प्रसन्न

ही होते हैं ईर्ष्या नहीं करते । जो शिष्यो से ईर्ष्या करे वह गुरु तो वस्तुतः गुरु ही नहीं है, क्योकि जब उसमे गुरुत्व नही, तो वह किसी का गुरु कैसे बन सकता है ।

इसतरह मै अपने मन मे चल रहे अन्तर्द्वन्द्व को शात करके विवेकी को विदाई देने का साहस जुटा ही रहा था कि देखते ही देखते विवेकी ने आँखे बद कर ली, मानो वह अतीन्द्रिय आनद मे निमग्न होकर निर्विकल्प होने का पुरुषार्थ कर रहा हो ।

मै उसकी आँखे खुलने की प्रतीक्षा करता रहा, पर वे खुली ही नही, मुँह पर हाथ फेरकर देखा तो पाया कि वह मोह-माया से सघर्ष करते-करते स्वरूप के सहारे मृत्युजयी बन गया है, अमर हो गया है । वैसे मैने विदाई तो बहुत बार बहुतो को दी, पर धन्य था, वह विवेकी, जिसने सार्थक और सफल कर ली अपनी अंतिम विदाई की बेला ।

ॐ शान्ति------ शान्ति-------- शान्ति--------



# अभिमत

## पाठकों की दृष्टि में प्रस्तुत प्रकाशन

**• वस्तुतः इस कृति को पढ़कर हम गद्-गद् हो गये**

"विदाई की बेला" मे अनेकों जगह ऐसे मर्मस्पर्शी प्रसंग और वाक्य आये हैं, जिन्हें पढ़कर हम विमोहित से हो गये ।

संसार का स्वरूप, मनुष्य जन्म की दुर्लभता और उसकी सार्थकता, पारिवारिक (घरेलू) जीवन के अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंगों में समताभाव धारण करने के उत्प्रेरक कथा प्रसंग और सभी प्रासंगिक बातों का सहज कथा प्रवाह एवं सभी विषयों का अति सुन्दर ढंग से सरल भाषा मे मार्मिक प्रतिपादन इस कृति मे हुआ है । इसे पढ़कर हमे प्रेरणा तो मिली ही, मार्गदर्शन भी मिला। — जिनेन्द्र दास जैन

सेवानिवृत्त इंजीनियर, धामपुर (उ प्र)

**• यह इतनी अच्छी लगी कि बार-बार पढ़ने की इच्छा होती है**

पंडित रतनचन्दजी भारिल्ल की नूतन कृति "विदाई की बेला" एक उच्चकोटि की रचना है । इसमे सदासुखी और विवेकी के कथानक के माध्यम से संसार की दशा का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया गया है । पुस्तक के शीर्षक को देखकर पहले तो ऐसा लगा कि इसमे लड़की की विदाई की बेला का कोई चित्रण होगा। किन्तु पुस्तक को ध्यानपूर्वक पढ़ने पर ज्ञात हुआ कि इसमें तो चिर विदाई (मृत्यु महोत्सव) की बेला का विशद विवेचन है। इसमे विवेकी की चिर विदाई की बेला का जो मार्मिक चित्रण किया गया है वह चिन्तन और मनन के योग्य है। विषय प्रतिपादन की शैली अत्यन्त रोचक है । वर्तमान युग मे ऐसे ही साहित्य की आवश्यकता है । मुझे यह पुस्तक इतनी अच्छी लगी कि बार-बार इसे पढ़ने की इच्छा होती है । — प्रो उदयचन्द्रजी जैन

सर्वदर्शनाचार्य, विभागाध्यक्ष, हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस

**• सशक्त लेखनी का उत्कृष्ट नमूना**

'विदाई की बेला" आध्यात्मिक दृष्टि से आधुनिक कथा साहित्य के क्षेत्र में आपकी सशक्त लेखनी का उत्कृष्टतम नमूना है । क्या रचना तंत्र, क्या चरित्र-चित्रण, क्या वैचारिक शान्त रस का परिपोष, क्या समाधिमरण की व्याख्या ? क्या-क्या गिनायें, सब मे उत्कृष्टता है ।

अध्यात्म रस से ओत-प्रोत यह कृति सूक्ष्मतम सिद्धांतों को हृदयंगम कराने में भी सफल है । "जीवन जीने की कला" को कथानक में बड़ी अच्छी तरह से अनुस्यूत किया है । आपका लेखन गूढ़विचार गर्भित, सुबोध और आत्मबोध लक्ष्यी होता है । बारंबार पढ़ा-----फिर-फिर पढ़ने को मन ललचाता है । इसमें प्रौढ़ों को अपना बुढ़ापा सफल व सुखद बनाने की कला मिल जाती है । अधिक क्या? यह कृति आत्मार्थी को मोक्षोन्मुख बनाने मे पूर्ण समर्थ है ।

— प्रो. प्रेमचन्द निरखे, मलकापुर (महा)

• **सुन्दर कृति**

"विदाई की बेला" रोचक, ज्ञानवर्द्धक आध्यात्मिक आस्वाद देने वाली सुन्दर कृति है । एतदर्थ लेखक को जितना धन्यवाद दिया जाय कम है ।

— **डॉ महेन्द्रसागर प्रचण्डिया**, अलीगढ़ (उ प्र)

• **गुजराती अनुवाद अत्यावश्यक**

पंडित रतनचन्द भारिल्ल द्वारा लिखित "विदाई की बेला" बहुत सुन्दर कृति है। यह पुस्तक मुझे इतनी अच्छी लगी कि मैंने इसे एक बैठक मे ही पूरी पढ ली और बारंबार पढ़ने का मन होता है ।

इसमे कथा का प्रस्तुतिकरण और आध्यात्मिक बोध खूब सुन्दर ढंग से रखा गया है । हिन्दी न जानने वाले हमारे गुजराती भाई भी इसे पढ़ सकें, समझ सकें, एतदर्थ गुजराती अनुवाद अत्यावश्यक है । इसे पढकर इसका गुजराती अनुवाद करने की स्वय मेरी प्रबल भावना हो रही है । एतदर्थ आपकी अनुमति अपेक्षित है । उत्तर की प्रतीक्षा मे। — **(डॉ) बलूभाई शाह**, बबई

• **लाखों प्रतियाँ घर-घर पहुँचे**

"विदाई की बेला" पढ़कर मुझे जो आनंद प्राप्त हुआ, मै उसका वर्णन शब्दो मे नही कर सकता । इसे जो भी भाई पढना प्रारंभ करेगा, अन्त तक पढकर ही छोडेगा । तत्वज्ञान होने पर समाधि किस प्रकार सहज हो जाती है, इसका वर्णन इस पुस्तक मे लेखक ने सरल भाषा मे किया है । "विदाई की बेला" पुस्तक छह माह के अल्पकाल मे दस हजार की संख्या मे समाज मे फैल गई । यह तो खुशी की बात है ही, इसकी और भी लाखो प्रतियां घर-घर पहुँचे - ऐसी मेरी आंतरिक भावना है । तथा इस प्रकार की और भी पुस्तकें बनायी जाएँ, जिनसे वृद्ध, प्रौढ़, युवा एवं बालकों मे भी वीतराग मार्ग के प्रति सच्ची तत्व रुचि जागृत होवे ।

लेखक ने इस पुस्तक के द्वारा विवेक को समाधिमरण कराकर-समाधि की भावना को प्रगट रूप देकर समाज का बहुत बडा उपकार किया है । यह पुस्तक "सस्कार" से भी अधिक लोकप्रिय होगी - ऐसा मेरा मानना है । — **पूनमचन्द छाबडा**,

मत्री, पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

• **विदाई की बेला रूपक एक मधुर संकल्पना**

"विदाई की बेला", सुभाषित वाक्यों, नीति, आगम और आध्यात्मिक विचारो को अपने में समाहित किये हुए है । मृत्यु के समय को "विदाई की बेला" के रूपक मे प्रस्तुत करके लेखक ने मधुर संकल्पना दी है। इस विदाई की बेला के समय हमारे परिणाम कैसे हों, और इन परिणामों के लिए जीवन के अन्तिम चरण वृद्धावस्था में क्या तैयारी हो, इसका दिशा-निर्देश "सदासुखी" के चरित्र के रूप में बहुत सुन्दर ढग से किया गया है । समाधि, समाधिमरण, सल्लेखना, इन विषयों का विवेचन बडा मधुर है । सदासुखी के जीवन में इनका दर्शन तो पूरे विवेचन को सजीव बना देता है । पुस्तक का गेट-अप, कागज, छपाई आदि भी सुन्दर है । लेखक बधाई के पात्र हैं ।— **श्री हरकचन्द बिलाला**, अशोक नगर (म प्र)

**• अन्य भाषाओं में भी अनूदित होना चाहिए**

सरल स्वभावी पंडित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल की कृति "विदाई की बेला" ने धर्म को सीधे हमारे जीवन से जोडा है । प्राप्त विषम परिस्थितियों में सुखी होने के सरलतम उपाय के रूप में "विदाई की बेला" मानो एक समीकरण-सा बन गया है ।

यह कृति मराठी और कन्नड भाषा के पाठकों को भी उनकी भाषा में अनूदित होकर उपलब्ध हो, ऐसी मेरी भावना है ।

आपकी "सामान्य श्रावकाचार" और "संस्कार" कृतियाँ भी अतिशय उपयोगी हैं, वे भी उपर्युक्त भाषाओं में अनूदित होनी चाहिए ।

मेरा मानना है कि - कठिन तत्वज्ञान को सरल भाषा मे प्रस्तुत करना ही विद्वता की सही कसौटी है, जो इन कृतियो में देखने को मिलती है ।

— ब्र यशपाल जैन, एम ए, कुभोज बाहुबली (महाराष्ट्र)

**• वीडीओ कैसिट बनना चाहिए**

"विदाई की बेला" और "सस्कार" मे लेखक ने गागर मे सागर भर दिया है। यह प्रचार-प्रसार का युग है, और आज टी वी , वी सी आर प्रचार के सशक्त माध्यम है । अत इन पुस्तकों का संक्षिप्त रूपान्तरण होकर वीडीओ कैसिट बनना चाहिए। जिससे अधिकतम धर्म प्रभावना हो सके । लेखक की इस देन के लिए मै आन्तरिक हृदय से उनका अभिवादन करता हूँ ।

— गभीरमल सोनी, फुलेरा

**• रोचक ज्ञानवर्द्धक कथानक**

आपने अन्तर के हिमालय प्रदेश में तथा चैतन्य के नन्दनवन मे बिहार करके एव चेतन रत्नाकर मे डुबकी लगाकर "विदाई की बेला" के रूप मे समाधि का वास्तविक स्वरूप लिखा है और कथानक के माध्यम से निज परमान्द आत्मा की दो अवस्थाओ के रूप मे कथानक के पात्र सदासुखी एव विवेकी को प्रस्तुत किया है, जोकि अनादिकाल से अपने उपयोग लक्षण की विभाव दशा रूप होकर परिणम रहे थे, स्वभाव की विराधना कर रहे थे, मिथ्यादर्शन ज्ञान चरित्र रूप होकर विवेकहीन थे, असमाधि से दुखी थे, उन्हे ज्ञानगगा मे डुबकी लगवाकर रत्नधारण कराकर समाधिमरण की विचित्रता का अनुभव कराया है ।

इस रोचक, ज्ञानवर्द्धक कथानक से आत्मार्थियो को आशातीत लाभ होगा। इस कृति के लिए आपको जितना धन्यवाद दिया जाए कम है।

— आत्मगवेषी विद्वान सुजानमल मोदी, बडी सादडी (राज)

**• अहिंसा वाइस (मासिक) दिल्ली, जन-मार्च, 92 (संयुक्तांक)**

कथा शैली के माध्यम से जैन तत्वज्ञान को सरलता से पाठकों तक पहुँचाने का भारिल्लजी का यह प्रशंसनीय प्रयास है । इस विधा में आपकी यह दूसरी पुस्तक है । प्रथम कथाकृति "संस्कार" का समाज में यथेष्ठ स्वागत हुआ है ।

प्रस्तुत पुस्तक में कथानक के द्वारा संन्यास एवं समाधि की चर्चा है । उस सन्यास एव समाधि की, जिसकी साधना-आराधना न केवल जीवन के उत्तरार्द्ध में या मृत्यु के सन्निकट होने पर की जाती है, अपितु जीवन के स्वर्णकाल में, परिवार

के मध्य में रहते हुए भी की जा सकती है और की जानी चाहिए । सरल, सुबोध भाषा में लिखी यह पुस्तक उपदेशात्मक शैली में है । मुझे लगता है यह 'संस्कार' से भी अधिक जनप्रिय होगी । — सतीश कुमार जैन

संपादक, श्रमण-साहित्य संस्थान, दिल्ली

• **अहिंसावाणी (मासिक) मार्च-जून, 1992**

प्रस्तुत कथाकृति को लघु उपन्यास कहे या बडी कहानी ? वैसे कथावार्ता भी कहा जा सकता है । पूरी कृति का कथ्य उत्तम पुरुष मे प्रस्तुत किया गया है। यो लेखक स्वयं ही उसमे एक चरित्र बन जाता है।

एक पात्र के रूप मे लेखक स्वय प्रारंभ से अन्त तक कथानक पर छाया रहता है । कथानक का पात्र विवेकी नायक के रूप में उभर कर हमारे सामने आता है । नायक विवेकी को प्रारंभ मे अविवेकी के रूप में चित्रित किया गया है, वह बाद मे विवेकी होता है । उसके विवेकी होने की स्थिति बहुत ही क्षिप्र हुई है। उसकी गति कुछ धीमी और मनोवैज्ञानिक होनी अपेक्षित थी ।

विद्वान लेखक समाज के जाने-माने प्रवचनकार भी हैं, अत. इस कथानक मे वे विवेकी के गुरु बन जाने के नाते सल्लेखना मरण के निर्यापकाचार्य के रूप मे प्रस्तुत होते दिखाई देते हैं ।

कथानक में लेखक ने समाधिमरण/सल्लेखना मरण की सरल सुबोध व्याख्या की है और कथा नायक की मरणासन्न विषम अवस्था मे उसकी स्थिति-प्रज्ञता तथा तटस्थ ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप का अच्छा विश्लेषण एव चित्रण किया है । यही इस कृति की खासी सफलता है । — वीरेन्द्र प्रसाद जैन, प्रधान संपादक, अलीगज (उ प्र)

• **यह हमारे जीवन पर पूरी उतरती है**

जैनपथ प्रदर्शक में आपके द्वारा लिखित "विदाई की बेला" की किस्ते पढी, बहुत बढ़िया लगीं, यह हमारे जीवन पर पूरी उतरती है । आप जो भी लिखे, उसकी पुस्तक अवश्य बनानी चाहिए । इसे भी पुस्तक के रूप में अवश्य छपाये ।

— सरूपचन्द मोतीलाल जैन, सनावद (म प्र)

• **आत्मधर्म बताने वाली कृति**

आपकी "विदाई की बेला" और "संस्कार" दोनों ही किताबें बहुत ही रोचक, मार्मिक एव आत्मधर्म बतलाने वाली हैं । इन्हें पढकर बहुत हर्ष हुआ । ऐसी ही मार्मिक ज्ञान देने वाली किताबें आपके द्वारा लबे काल तक लिखी जाती रहें, यह मेरी मगल कामना है । — व्होरा हीरालाल जैन, पुणे (महा)

• **इससे जीवन जीने की कला का ज्ञान भी होता है**

आपकी अनुपम कृति "विदाई की बेला" पढ़कर मुझे ऐसा लगा कि यह कृति हम जैसे वृद्धों के लिए ही लिखी गई है, जिनकी "विदाई की बेला" अब नजदीक है । वास्तव मे यह उपन्यास तत्वचर्चा व सामयिक तत्वज्ञान से भरा हुआ है । इसको पढ़कर तत्वज्ञान तो होता ही है, जीवन जीने की कला का ज्ञान भी होता है । आत्मार्थी को तत्वज्ञान की प्यास कैसी होती है या कैसी होनी चाहिए, यह भी इसमें दर्शाया गया है ।

आपने "विवेकी" को समाधिमरण कराकर, समाधि भावना को प्रेक्टीकल रूप देकर समाज का बहुत ही उपकार किया है । इसे पढ़कर मनुष्य को सच्ची समाधि की प्रेरणा मिलती है । इसके लिए आपको जितना भी धन्यवाद दिया जाय, कम है । — श्री सागर चन्द जैन "विचारक", मोगाँव (मैनपुरी)

• **सभी मुमुक्षु इसे बारंबार पढ़ें**

"जन्म-मरण रूप संसार में भटकते संसारी प्राणियों को जन्म-मरण मिटाने का उपाय जानने के लिए एवं शान्ति सुख का लाभ प्राप्त कराने के लिए यह कृति अत्यंत उपयुक्त है । सभी मुमुक्षु इसे बारंबार पढ़ें व लाभ उठायें ।

— पंडित नरेन्द्रकुमारजी भिषीकर, न्यायतीर्थ, सोलापुर (महा)

• **चैतन्यसुख मासिक, उदयपुर**

पंडित रतनचन्द भारिल्ल की "विदाई की बेला" संस्कार की तरह ही कथा साहित्य की दूसरी कडी है । यह सभी प्रकार के पाठकों के लिए रोचक, ज्ञानवर्द्धक एवं अध्यात्म का सार बताने वाली अनुपम कृति है । इसकी भाषा सरल एव सुबोध है ।

गृहस्थी मे रहते हुये भी इसके पाठकों को आत्मा की सच्ची साधना एव आराधना की प्रेरणा मिलेगी । गृहस्थ भी समाधिग्रहण कर अपना ऐहिक एव पारलौकिक जीवन सुखी बना सकेगा । — पंडित मांगीलालजी अग्रवाल, संपादक

• **अपने पैसे खर्च करके भी मित्रों को पढ़ने दूँगा**

"विदाई की बेला" पढकर मुझे इतनी शक्ति व शान्ति मिली कि मैं शब्दो से वर्णन नही कर सकता । इस पुस्तक ने मुझ जैसे रेगिस्तानी प्यासे प्राणी को पानी ही नहीं बल्कि अमृतपान कराया है । मैं इसे अपने पैसे खर्च करके भी अपने मित्रो को पढ़ने को दूँगा । — राजीव जैन, दिल्ली

• **जैन साहित्य को नई देन**

"विदाई की बेला" उपन्यास विधा में लिखकर आपने जैन साहित्य को एक नई देन दी है । वस्तुत यह सर्वश्रेष्ठ बन पड़ा है । एक आत्मार्थी जीव के लिए समतामय जीवन जीने के लिए और समाधिमरण की यथार्थ जानकारी के लिए आगम के आलोक मे लिखी गई यह कृति अत्यन्त उपयोगी बन गई है ।

— बाल ब्र कैलाशचन्द शास्त्री 'अचल', ललितपुर (उ प्र)

• **यह कृति शान्ति पथ प्रदर्शिका बनेगी**

आपने बुजुर्गों को अपना शेष जीवन सार्थक करने की कला का दिग्दर्शन तो इस 'विदाई की बेला' कथा कृति में कराया ही है, जनसामान्य के लिए भी यह अनुपम कृति शान्तिपथ की पथ प्रदर्शिका बनेगी, पाठकों को सुखद जीवन की शुरूआत करने में सहायक सिद्ध होगी ।

पूर्व में आपकी अनुपम कथाकृति संस्कार भी पढ़ी थी । जनसामान्य की रुचि में परिवर्तन हेतु सरल भाषा व कथानक शैली में ये पुस्तकें लिखकर आपने भी अपने अनुज डॉ हुकमचन्द भारिल्ल की भाँति साहित्य की सभी विधाओं में महान योगदान किया है ।

तत्व के प्रचार-प्रसार की गंगा-जमुना धारा के समान आपकी जोडी को समाज सदैव स्मरण रखेगा । — (श्री मंत सेठ) राजेन्द्र कुमार जैन, विदिशा (म प्र)

**• एक अनुपम कार्य**

आपका "विदाई की बेला" उपन्यास बहुत अच्छा लगा । आपने धार्मिक क्षेत्र मे उपन्यास शैली अपना कर बहुत अच्छा - एक अनुपम काम किया है । सदासुखी और विवेकी पात्रो जैसी सभी समाज मे जागृति आवे और आप जैसे विद्वान साहित्य के सृजन व प्रचार-प्रसार द्वारा इस जनजागरण के काम को करते रहें - यही मेरी मंगल भावना है । — किरण भाई जे कामदार, जैतपुर (गुज)

**• गूढ़तत्वों के प्रतिपादन की विलक्षण सूझ-बूझ**

"विदाई की बेला" वास्तव मे एक आध्यात्मिक कृति है । जैन दर्शन के गूढ़तत्वो एव रहस्यो को आपने अपनी विलक्षण सूझ-बूझ से सरल एव बोधगम्य बनाया है।

आपकी रचनाओं मे आपके गहन अध्ययन, परिपक्व अनुभव एव तीव्र आध्यात्मिक अभिरुचि की अमिट छाप दृष्टिगोचर होती है ।

हम आपके सुखद जीवन की कामना करते हुए भावना भाते हैं कि लोकहित की दृष्टि से आप इसी तरह के बोधगम्य भाषा-शैली के साहित्य का सृजन करते हुए धर्म के प्रचार-प्रसार मे सतत संलग्न रहे ।

— पूर्व सांसद श्री डालचन्द जैन, सागर (म प्र)
अध्यक्ष, अ भा दिगम्बर जैन परिषद्, दिल्ली

**• सबसे रोचक व उपादेय कृति**

"सामान्य श्रावकाचार" और "विदाई की बेला" दोनो पुस्तकें बहुत उपयोगी है । इनमे विषय का प्रतिपादन बडी स्पष्टता से किया गया है । सबसे रोचक व उपादेय 'विदाई की बेला' लगी । इसमे कथा सूत्र जुड जाने से इसकी पठनीयता तथा बोधगम्यता बढ गई है । इन कृतियो के लिए आपको हार्दिक बधाई ।

— प्रसिद्ध साहित्यकार श्री यशपालजी जैन, नई दिल्ली

**• कृति मन को प्रभावित करती है**

"विदाई की बेला" पढी, बहुत अच्छी लगी । इतने सुन्दर ढग से लिखी गई है कि मन को प्रभावित करती है । हमें यह इतनी अच्छी लगी कि हमने अजमेर मे आयोजित सिद्धचक्र मडल विधान महोत्सव के अवसर पर ट्रस्ट की ओर से इसकी 300 प्रतियाँ सभी साधर्मी भाई-बहिनो को भेट की। हम आशा करते है कि भविष्य मे भी समाज को इसी प्रकार की सुन्दर, लाभप्रद, कल्याणमार्ग की ओर ले जाने में निमित्त रूप रचनायें पढ़ने को मिलेगी । — श्री हीराचन्दजी व्होरा
मत्री, वी वि स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, अजमेर

**• अनुपम कृति**

उपन्यासिक शैली मे लिखी गई विदाई की बेला साहित्यिक दृष्टि से अनुपम कृति है । भाषा सरल, सरस व बोधगम्य है । कवर का गेटअप भी आकर्षक बन पडा है । उत्कृष्ट कृति के लिए लेखक को बधाई ।— श्री अखिल बंसल
संपादक, समन्वयवाणी, जयपुर

• **पत्र लिखे बिना चैन नही पडी**

आपकी "विदाई की बेला" इतनी पसंद आई कि आपको पत्र लिखे बिना चैन नही पडी ।

कथा के माध्यम से, मनुष्य जीवन का चित्र खींचकर उस जीवन को शाश्वत सुख की प्राप्ति की ओर मोडकर सारा मोक्षमार्ग आपने इस किताब में चित्रित किया है । तत्वज्ञान प्रतिपादन का एकदम बढ़िया फ्लो बना है ।

जैन तत्वज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति भी इसे पढ़े तो उसके ध्यान मे भी परम सत्य वस्तु स्वरूप आयेगा । तथा रोचक पद्धति के कारण व्यक्ति पूरी किताब पढ़कर ही रुकेगा ।

आत्मा को मुक्ति के मार्ग मे लगाने, मृत्यु का स्वागत करने एव जीने की कला मे उत्साहित करने की सामर्थ्य इस किताब मे है । इसके पहले आपकी "संस्कार" किताब पढ़ी थी, वह भी अपने विषय की बे-जोड लगी थी। उसके बाद आपने इतनी जल्दी यह अनुपम कृति देकर समाज का बडा उपकार किया है । एतदर्थ आपका हार्दिक अभिनदन। — **बाल ब्र श्री धन्यकुमार बेलोकर**, महामंत्री

श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, बंबई

• **समाधि साधक मुमुक्षु को सर्वांगीण उपयोगी पुस्तक**

"खनियाधाना मे नन्दीश्वर जिनालय शिलान्यास महोत्सव के प्रसंग पर संयोग से बहुत दिनो बाद मुझे आपके सरल-सुबोध शैली में आध्यात्मिक प्रवचन सुनने का सौभाग्य मिला । मेरा हृदय प्रफुल्लित हुआ ।

आपकी नवीन कृति "विदाई की बेला" भी मैने मनोयोगपूर्वक पढी, पढ़कर भारी प्रसन्नता हुई । निश्चय ही एक समाधि साधक मुमुक्षु जीव को यह पुस्तक सर्वांगीण उपयोगी है, ऐसा मुझे लगा । प्रत्येक आत्मकल्याणार्थी जीव को इसका अध्ययन करना चाहिए । — **वयोवृद्ध विद्वान ब्र बाबा परसरामजी**

*अधिष्ठाता, उदासीन आश्रम, इंदौर (म प्र)*

• **पेट की खुराक की उपेक्षा हो जाती है**

विदाई की बेला आद्योपांत पढी । आपने जैनदर्शन के दार्शनिक सिद्धांतो का सक्षेप सारभूत निचोड, सरल, सुगम भाववाही शैली मे साहित्यिक कहानी के रूप मे इस ढग से रखा है कि पढ़ने वाले का चित्त आकर्षित होकर आगे-आगे उत्सुकता बढती रहती है । पुस्तक हाथ से छोडने का मन नही होता बल्कि ज्ञान की खुराक मिलती रहने से पेट की खुराक में उपेक्षा होती रहती है ।

प्राथमिक भूमिका वालो के लिये तो लोह-चुम्बक का काम करती है यह पुस्तक। जैसा नाम वैसा ही गुण है इसमे । चतुर्गति ससार परिभ्रमण रूप भावमरण द्रव्यमरण का विनाश कर समाधिमरण, संन्यासमरण, पंडितमरण का महोत्सव कैसा होता है, इसका सुन्दर चित्रण किया है । यह कृति देश-विदेश मे सार्वजनिक रूप से मनमोहक बनकर सबका अविनाशी आत्मकल्याण में निमित्त बने । यही मंगल भावना है।

— **पंडित देवीलालजी मेहता**, उदयपुर (राज)

**• प्रत्येक कृति घर-घर में ध्यानपूर्वक पढ़ी जाती है**

डॉ भारिल्ल। आप तो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के विद्वान बन ही चुके हैं, आपके अग्रज पं रतनचन्दजी भारिल्ल भी बहुत सुन्दर लिख रहे हैं। उनकी भी प्रत्येक कृति घर-घर में खूब ध्यानपूर्वक पढ़ी जाती है।

पूजन विषयक जिनपूजन रहस्य, समाधि विषयक, विदाई की बेला, सदाचार प्रेरक संस्कार एवं सामान्य श्रावकाचार और णमोकार महामंत्र आदि सभी कृतियां बेजोड हैं ।

आप लोगों की उन्नति देखकर हार्दिक प्रसन्नता होती है ।

— पंडित हीरालाल जैन "कौशल"

— डॉ सत्यप्रकाश जैन, एम ए , पीएच डी , दिल्ली

**• सही जीवन-शैली समझाने में समर्थ कृति**

"विदाई की बेला" में लेखक ने नाना जन्मों मे होनेवाले चिरविदाई का कथाशैली में सुन्दर वर्णन किया है ।

बार-बार होने वाली दुःखद चिरविदाई सुखद कैसे बन सकती है? इस बात को आगम के आलोक में समझाने का सफल प्रयास प्रस्तुत कृति मे किया गया है। तत्त्वदर्शन से समन्वित यह रचना रुचिकर तो है ही, इसकी भाषा-शैली भी सरल एव प्रवाहपूर्ण है । आशा है पाठक इस रचना के माध्यम से अपनी जीवन-शैली समझने में यत्नशील होगे । — डॉ देवेन्द्रकुमार शास्त्री, एम ए , पीएच डी

शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, नीमच (म प्र)

**• आपकी लेखनी से ऐसा ही लेखन सदैव होता रहे**

आपकी लिखी "विदाई की बेला" पढ़ी । पुस्तक इतनी अच्छी लगी कि पढना प्रारंभ करने पर पूरी करके ही रुका । अनेक स्थल तो ऐसे प्रेरणादायक और हृदयस्पर्शी है, जिन्हें पुन पढ़ने का मन होता है ।

मृत्युमहोत्सव के विषय मे दी गई व्यावहारिक जानकारी तो मार्मिक है ही, तात्त्विक विषयवस्तु और आध्यात्मिक गहराई भी भरपूर है ।

आपकी लेखनी से इसीप्रकार का यशस्वी लेखनकार्य होता रहे यही मंगल कामना है । — डॉ व्ही एच सोनटके, नाला सोपार, (वेस्ट) महाराष्ट्र